वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ५२ अंक ३ मार्च २०१४

रामकृष्ण मिशन

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मार्च २०१४

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५२
अंक ३

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

वर्ष ५२ मार्च २०१४ अंक ३

पुरखों की थाती

दानेन भूतानि वशी भवन्ति
दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् ।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानात्
ततः पृथिव्यां प्रवरं हि दानम् ।।३६२।।

– दान से सभी प्राणी वश में आ जाते हैं, दान से वैरभाव का भी नाश हो जाता है, दान से पराया व्यक्ति भी अपना मित्र बन जाता है, अत: दुनिया में दान ही सर्वश्रेष्ठ कार्य है।

दु:खमेवास्ति न सुखं यस्मात् तदुपलक्ष्यते ।
दु:खार्तस्य प्रतिकारे सुखसंज्ञा विधीयते ।।३६३।।

– इस संसार में सुख नहीं, केवल दुख ही है। दुखी व्यक्ति द्वारा उसे दूर करने के प्रयास को ही सुख कहते हैं।

दु:खितोऽपि चरेद् धर्मं यत्र कुत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ।।३६४।।

– व्यक्ति चाहे जिस किसी भी आश्रम में हो, भले ही स्वयं ही दुख में हो, पर सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् समभाव से आचरण करना ही यथार्थ धर्म है; त्याग का वेश मात्र धारण कर लेने से ही कोई धार्मिक नहीं हो जाता।

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययालंकृतोऽपिसन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः ।।३६५।।

– दुर्जन मनुष्य विद्या आदि गुणों से युक्त हो, तो भी उससे दूर ही रहना चाहिये। क्योंकि मणि से विभूषित सर्प भी क्या कम भयानक होता है?

दुर्जनः सज्जनो भूयात्सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्ताश्चान्यान् विमोचयेत्।।३६६।।

– दुर्जन लोग सज्जन बने; सज्जनों को शान्ति मिले; शान्त लोग बन्धनों से मुक्त हों; और मुक्तगण दूसरों को मुक्त करें।

दुर्जनः प्रियवादी च नैतद्विश्वास-कारणम् ।
मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदि हालाहलं विषम् ।।३६७।।

– बुरा व्यक्ति यदि मीठा भी बोले, तो इस कारण उस पर विश्वास नहीं कर लेना चाहिए; क्योंकि मधु तो केवल उसकी जिह्वा पर ही रहता है, पर हृदय में घातक विष भरा रहता है।

दुर्जन-दूषित-मनसः सुजनेष्वपि नाऽस्ति विश्वासः ।
बालः पायसदग्धो दध्यपि फूत्कृत्य भक्षयति ।।३६८

– जो लोग किसी दुष्ट व्यक्ति से धोखा खा चुके हैं, वे वैसे ही सज्जनों पर भी विश्वास नहीं करते, जैसे कभी दूध से हाथ जल जाने पर बालक दही को भी फूँक-फूँककर पीता है।

दुर्जनेन समं वैरं प्रीतिं चापि न कारयेत् ।
उष्णो दहति चाङ्गारः शीतः कृष्णायते करम् ।।३६९

– बुरे व्यक्ति के साथ न तो शत्रुता और न ही प्रेम करना चाहिए; क्योंकि अंगारा यदि दहकता हुआ हो, तो हाथ को जला डालता है और ठण्डा हो, तो काला कर देता है।

दुर्बलस्य बलं राजा, बालानां रोदनं बलम् ।
बलं मूर्खस्य मौनित्वं चौराणाम्-अनृतं बलम् ।।३७०

– दुर्बल व्यक्ति के लिये राजा का बल होता है, बच्चों के लिये रोना ही उनका बल है, मूर्ख के लिये मौन-धारण ही उसका बल है; और चोरों का बल उनके झूठ बोलने में होता है। (इस प्रकार हर व्यक्ति के बल का केन्द्र भिन्न होता है।)

दुर्वृत्तः क्रियते धूर्तैः श्रीमानात्मविवृद्धये ।
किं नाम खलसंसर्गः कुरुते नाश्रयाशवत् ।।३७१।।

– धूर्त लोग अपने स्वार्थसिद्धि हेतु धनिकों को दुराचारी बना डालते हैं। दुष्टसंग अग्नि की भाँति क्या अनर्थ नहीं करता?

विवेकानन्द-गीति

– १ –

(तोड़ी – कहरवा)

व्यर्थ प्रपंचों में दुनिया के, जीवन मेरा बीता जाए ।
कब से बैठा हूँ करुणामय, आशा-पथ पर दृष्टि लगाए ।।

सदा-सर्वदा रखता हूँ मैं, हृदि कुटिया के द्वार उघाड़े ।
एक बार आओ अन्तर में, तो मेरा मन-प्राण जुड़ाए ।।

तुम त्रिभुवन के स्वामी हो प्रभु, मैं अति दीन-अकिंचन प्राणी ।
कैसे कहूँ – नाथ आ जाओ, यह कुटीर भाए, ना भाए ।।

– २ –

(रागेश्री या दरबारी कान्हरा – कहरवा)

मन, लौट चलो अपने घर ।
जग-विदेश में, पथिक वेश में, भटक रहे हो क्यों-कर !!

रूप-रसादि पंच विषयों को,
अनिल-अनल-जल आदि भूत जो;
सत्य मान क्यों भ्रमित हुए हो,
निज प्रियतम को खोकर ।। मन.

निज प्रज्ञा का दीप जलाना, श्रेय मार्ग पर बढ़ते जाना;
पथ-सम्बल के हेतु संग में, भक्ति-सम्पदा लेकर ।। मन.

लोभ-मोह-मद आदि लुटेरे,
पथ में फिरते साँझ-सबेरे;
सदा चलेंगे साथ तुम्हारे, शम-दम-प्रहरी सुखकर ।। मन.

थक जाओ यदि कहीं पंथ में, विश्रामालय साधु-संग में;
क्लान्ति मिटाना दिशा पूछना,
कर सुख-शयन वहीं पर ।। मन.

अगर कहीं पर भय लगता हो,
प्रभु को आकुल-चित्त पुकारो;
खूब दबदबा है 'विदेह',
यम भी रहते है डरकर ।। मन, लौट चलो अपने घर ।।

* श्रीरामकृष्ण से प्रथम भेंट के समय स्वामीजी द्वारा गाये दो बँगला गीतों का भावानुवाद

देश के लिये मेरी कार्ययोजना

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

वेदान्त पृथ्वी के सारे सम्प्रदायों एवं विचारों को प्रकाशित करनेवाला एकमात्र आलोक है और सभी धर्म जिसके भिन्न-भिन्न रूप मात्र हैं। और श्रीरामकृष्ण परमहंस कौन थे? वे इसी प्राचीन तत्त्व के प्रत्यक्ष निदर्शन, प्राचीन भारत के ज्वलन्त प्रतिमूर्ति, भावी भारत के पूर्वाभास स्वरूप और समस्त देशों के समक्ष आध्यात्मिक आलोक-वाहक स्वरूप थे![३४]

यदि ईश्वर ने चाहा तो इस मठ को समन्वय का महान् क्षेत्र बनाना होगा। हमारे श्रीरामकृष्ण समस्त भावों की साक्षात् समन्वय-मूर्ति हैं। उस समन्वय के भाव को यहाँ पर जगाकर रखने से श्रीरामकृष्ण संसार में प्रतिष्ठित रहेंगे। ऐसा करना होगा, जिससे सारे मत, सारे पन्थ, ब्राह्मण-चाण्डाल – सभी यहाँ पर आकर अपने-अपने आदर्श को देख सकें। उस दिन जब मठभूमि पर श्रीरामकृष्ण की प्राण-प्रतिष्ठा की, तब ऐसा लगा मानो यहाँ से उनके भावों का विकास होकर चराचर विश्व भर में छा गया है। मैं तो जहाँ तक हो सके, कर रहा हूँ और करूँगा; तुम लोग भी श्रीरामकृष्ण के उदार भाव सबको समझा दो। केवल वेदान्त पढ़ने से कोई लाभ न होगा। असल में प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन में विशुद्ध अद्वैतवाद की सत्यता को प्रमाणित करना होगा। श्री शंकर इस अद्वैतवाद को जंगलों और पहाड़ों में रख गये हैं; मैं अब उसे वहाँ से लाकर संसार और समाज में प्रसारित करने के लिए आया हूँ। घर-घर में, घाट-मैदान में, जंगल-पहाड़ों में इस अद्वैतवाद का गम्भीर नाद उठाना होगा।[३५]

इसका केवल थोड़ा ही भाग तुम लोग देख सकोगे। यथासमय सारे जगत् को श्रीरामकृष्ण का उदार भाव ग्रहण करना पड़ेगा। अभी तो इसका प्रारम्भ मात्र हुआ है। इस प्रबल बाढ़ के वेग में सभी को बह जाना पड़ेगा।[३६]

यथासमय देश में कर्मतत्परता और आत्मनिर्भरता अवश्य आ जायगी – मैं स्पष्ट देख रहा हूँ – इससे भिन्न कुछ हो ही नहीं सकता। बुद्धिमान लोग आनेवाले तीनों युगों का चित्र अपने सामने प्रत्यक्ष देख सकते हैं। श्रीरामकृष्ण के जन्मग्रहण के समय से ही पूर्वाकाश में अरुणोदय हुआ है – समय आते ही निश्चित रूप से दोपहर के सूर्य की प्रखर किरणों से देश आलोकित हो उठेगा।[३७]

एक दूर गाँव के एक निर्धन ब्राह्मण परिवार में जन्मा वह बालक... इस समय सारे संसार में पूजा जा रहा है; और उसे वे लोग पूजते हैं, जो शताब्दियों से मूर्तिपूजा के विरोध में आवाज उठाते आये हैं? यह किसकी शक्ति है? यह तुम्हारी शक्ति है या मेरी? नहीं, यह और किसी की शक्ति नहीं। जो शक्ति यहाँ श्रीरामकृष्ण परमहंस के रूप में आविर्भूत हुई थी, यह वही शक्ति है; ... सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी, न्यूनाधिक रूप में, उसी पुंजीभूत शक्ति की लीला मात्र है। इस समय हम लोग उस महाशक्ति की लीला का आरम्भ मात्र देख रहे हैं। वर्तमान युग का अन्त होने के पहले ही तुम लोग इसकी अधिकाधिक आश्चर्यमयी लीलाएँ देख सकोगे। भारत के पुनरुत्थान के लिए इस शक्ति का आविर्भाव ठीक समय पर ही हुआ है।[३८]

लगता था, मानो हम लोग अपने राष्ट्रीय जीवन के इस मूल भाव को हटाकर उसकी जगह एक दूसरा भाव स्थापित करने जा रहे थे, हम लोग जिस मेरुदण्ड के बल पर खड़े हैं, मानो उसकी जगह दूसरा कुछ स्थापित करने जा रहे थे, अपने राष्ट्रीय जीवन के धर्मरूप मेरुदण्ड की जगह राजनीति का मेरुदण्ड स्थापित करने जा रहे थे। यदि हम इसमें सफल होते, तो इसका फल पूर्ण विनाश होता; पर ऐसा होने वाला नहीं था। इसीलिये इस महाशक्ति का आविर्भाव हुआ। मुझे इस बात की परवाह नहीं कि तुम इन महापुरुष को किस अर्थ में ग्रहण करते हो और उसके प्रति कितना आदर रखते हो, किन्तु मैं तुम्हें यह चुनौती के रूप में अवश्य बता देना चाहता हूँ कि अनेक शताब्दियों से भारत में विद्यमान अद्भुत शक्ति का यह प्रकट रूप है; और एक हिन्दू के नाते तुम्हारा यह कर्तव्य है कि तुम इस शक्ति का अध्ययन करो और भारत के कल्याण, उसके पुनरुत्थान तथा सम्पूर्ण मानव

जाति के हित के लिए इस शक्ति के द्वारा किये गये कार्य का पता लगाओ। मैं तुमको विश्वास दिलाता हूँ कि संसार के किसी भी देश में सार्वभौम धर्म और विभिन्न सम्प्रदायों के बीच भ्रातृभाव के उदित तथा चर्चित होने के बहुत पहले ही, इस नगर के पास एक ऐसे महापुरुष थे, जिनका सम्पूर्ण जीवन एक आदर्श धर्म-महासभा का स्वरूप था।[३९]

हमारे आदर्श पुरुष आध्यात्मिक होने चाहिए। श्रीरामकृष्ण परमहंस के रूप में हमें एक ऐसा ही आदर्श पुरुष मिला है। मेरी बातों पर विश्वास करो – यदि यह देश उठना चाहता है, तो इसे इस नाम के चारों ओर उत्साह के साथ एकत्र हो जाना चाहिए। श्रीरामकृष्ण परमहंस का प्रचार मैं, तुम या जो कोई भी करे, इससे कुछ आता-जाता नहीं। मैं तुम्हारे सामने इस महान् आदर्श पुरुष को रखता हूँ और अब इस पर विचार करने का भार तुम पर है। इस महान् आदर्श पुरुष को लेकर क्या करोगे, इसका निर्णय तुम्हें अपने राष्ट्र के कल्याण के लिए अभी कर डालना चाहिए। एक बात हमें याद रखनी चाहिए कि तुम लोगों ने जितने महापुरुष देखे हैं और मैं स्पष्ट रूप से कहूँगा कि जितने भी महापुरुषों के जीवन-चरित पढ़े हैं, उन सबमें इनका जीवन सर्वाधिक पवित्र था और तुम्हारे सामने यह तो स्पष्ट ही है कि आध्यात्मिक शक्ति का ऐसा अद्भुत आविर्भाव तुम्हारे देखने की तो बात ही दूर, तुमने कभी पढ़ा भी न होगा। उनके तिरोभाव के दस वर्ष के भीतर ही इस शक्ति ने सम्पूर्ण संसार को व्याप्त कर लिया है, यह तो तुम प्रत्यक्ष देख रहे हो। अत: कर्तव्य की प्रेरणा से अपने देश और धर्म की भलाई के लिए मैं यह महान् आध्यात्मिक आदर्श तुम्हारे सामने प्रस्तुत करता हूँ। मुझे देखकर उसकी कल्पना न करना। मैं एक बहुत ही दुर्बल माध्यम मात्र हूँ। उनके चरित्र का निर्णय मुझे देखकर न करना। वे इतने महान् थे कि मैं या उनके शिष्यों में से कोई दूसरा सैकड़ों जीवन तक चेष्टा करते रहने के बावजूद उनके यथार्थ स्वरूप के लाखवें अंश के बराबर भी न हो सकेगा।[४०]

ज्ञानमार्ग अच्छा है, पर उसके शुष्क वाद-विवाद में परिणत हो जाने की आशंका रहती है। भक्ति बड़ी उच्च वस्तु है, पर उससे निरर्थक भावुकता पैदा होने के कारण असली चीज ही के नष्ट हो जाने की सम्भावना रहती है। हमें इन सभी के समन्वय की जरूरत है। श्रीरामकृष्ण का जीवन ऐसा ही समन्वयपूर्ण था। ऐसे महापुरुष जगत् में बहुत ही कम आते हैं, परन्तु हम उनके जीवन और उपदेशों को आदर्श के रूप में सामने रखकर आगे बढ़ सकते हैं। ...

ईश्वर यद्यपि सर्वत्र हैं, तथापि हम उन्हें केवल मनुष्य-रूप में ही जान सकते हैं। श्रीरामकृष्ण के जैसा पूर्ण चरित्र कभी किसी महापुरुष का नहीं हुआ, इसलिए हमें चाहिए कि हम उन्हीं को केन्द्र बनाकर उन पर डटे रहें। हाँ, हर एक आदमी उनको अपने अपने ढंग से ग्रहण करे, इसमें कोई रुकावट नहीं डालनी चाहिए। चाहे कोई उन्हें ईश्वर माने, या मुक्तिदाता या आचार्य, या आदर्श पुरुष अथवा महापुरुष – जो जैसा चाहे, वह उन्हें उसी ढंग से समझे।[४१]

चरित्रवान, बुद्धिमान, दूसरों के लिए सर्वस्व त्यागी तथा आज्ञाकारी युवकों पर ही मेरा भविष्य का कार्य निर्भर है। उन्हीं पर मुझे भरोसा है, जो मेरे भावों को जीवन में परिणत कर अपना और देश का कल्याण करने में जीवनदान कर सकेंगे।... नचिकेता की तरह श्रद्धावान दस-बारह लड़के मिल जायँ, तो मैं देश की विचारधारा और कर्मठता को नवीन पथ पर परिचालित कर सकता हूँ।[४२]

मन में आता है – मठ आदि सब बेच दूँ और गरीब-दुखी दरिद्र-नारायणों में बाँट दूँ। ... जब मैं पश्चिमी देशों में गया था, जगदम्बा से कितना कहा, "माँ! यहाँ पर लोग फूलों की सेज पर सो रहे हैं, तरह-तरह के खाद्य-पेयों का उपभोग कर रहे हैं, इन्होंने कौन-सा भोग बाकी रखा है! और हमारे देश के लोग भूखों मर रहे हैं। माँ, क्या उनके उद्धार को कोई उपाय न होगा?" उस देश में धर्म-प्रचारार्थ जाने का मेरा एक उद्देश्य यह भी था कि मैं इस देश के लिए अन्न का प्रबन्ध कर सकूँ।

देश के लोग दो वक्त दो दाने खाने को नहीं पाते, यह देखकर कभी-कभी मन में आता है – छोड़ दे शंख बजाना, घण्टी हिलाना, छोड़ दे लिखना-पढ़ना और अपनी मुक्ति की चेष्टाएँ – हम सब गाँव-गाँव में घूमकर चरित्र और साधना के बल पर धनिकों को समझाकर धन जुटाकर ले आयें और दरिद्र-नारायण की सेवा करते हुए जीवन बिता दें। ...

कभी-कभी इच्छा होती है – तेरे छूआछूत-पन्थ की सीमा को तोड़कर अभी चला जाऊँ। "जहाँ कहीं भी पतित, गरीब, दीन, दरिद्र हो, आ जाओ" – यह कह-कहकर, उन सभी को श्रीरामकृष्ण के नाम पर बुला लाऊँ। इन लोगों के बिना उठे माँ नहीं जागेगी। हम यदि इनके लिए अन्न-वस्त्र की सुविधा न कर सके, तो फिर हमने क्या किया? हाय! ये लोग दुनियादारी जरा भी नहीं जानते, इसीलिए तो दिन-रात परिश्रम करके भी अन्न-वस्त्र का प्रबन्ध नहीं कर पाते। आओ, हम सब मिलकर इनकी आँखें खोल दें।

मैं दिव्य दृष्टि से देख रहा हूँ, इनके और मेरे भीतर एक ही ब्रह्म – एक ही शक्ति विद्यमान है, केवल विकास की कमी या अधिकता है। ...

इतनी तपस्या करने के बाद मैंने यही सार समझा है कि वे प्रत्येक जीव में विराजमान हैं; इसके अतिरिक्त ईश्वर और कुछ भी नहीं। "जो जीवों से प्रेम करता है, वही व्यक्ति ईश्वर की सेवा कर रहा है।"[४३]

'माँ' (श्री सारदा देवी) के जीवन का विलक्षण महत्त्व तुम लोग अभी नहीं समझ सके हो – तुममें से एक भी नहीं। धीरे-धीरे जानोगे। भाई, शक्ति के बिना जगत् का उद्धार नहीं हो सकता। क्या कारण है कि संसार के सब देशों में हमारा देश ही सबसे अधम, शक्तिहीन और पिछड़ा हुआ है? इसका कारण यही है कि यहाँ शक्ति का अनादर होता है। उस महाशक्ति को भारत में पुन: जगाने के लिए ही माँ का आविर्भाव हुआ है।... शक्ति की कृपा के बिना कुछ भी नहीं हो सकता।... दिन-पर-दिन सब समझता जा रहा हूँ। मेरी आँखें खुलती जा रही हैं।... मुझे क्षमा करो, माँ के विषय में मैं थोड़ा कट्टर हूँ। माँ की आज्ञा होने पर उनके वीरभद्र भूत-प्रेत कुछ भी कर सकते हैं।... भाई, विश्वास अमोल धन है। जीती-जागती दुर्गा की पूजा न दिखाया, तो मेरा नाम नहीं!... माँ का स्मरण होने पर बीच-बीच में कहता हूँ, 'को राम:?' भाई, इसी में मेरी कट्टरता है। रामकृष्ण परमहंस ईश्वर थे या मनुष्य, या जो चाहे कह लो, परन्तु जिसकी माँ पर भक्ति नहीं है, उसे धिक्कार है।[४४]

मुझे भविष्य नहीं दिखता और मैं उसे देखने की परवाह भी नहीं करता। परन्तु एक सजीव दृश्य मैं अपने सामने अवश्य देख रहा हूँ कि हमारी यह प्राचीन माता एक बार फिर जाग्रत होकर नवयौवन और पहले से भी कहीं अधिक महिमा-मण्डित होकर अपने सिंहासन पर विराज गयी हैं।[४५]

मैंने एक नया मार्ग बनाया है और इसे सबके लिये खोल दिया है।[४६]

देह धारण किया है, तो वह नष्ट भी हो जायगा। पर यदि तुम लोगों में मेरे भावों को थोड़ा-थोड़ा भी प्रविष्ट करा सके, तो समझूँगा कि तुम्हारा देह धारण करना सार्थक हुआ।[४७]

जब मैं अपनी साधनावस्था में भारत के विविध स्थानों का भ्रमण कर रहा था, उस समय मैंने अनेक निर्जन गुफाओं में अकेले बैठकर कितना समय बिताया है; मुक्ति नहीं हुई – यह सोचकर कितनी ही बार उपवास करके देह त्यागने का भी संकल्प किया है; कितना ध्यान, कितना साधन-भजन किया है! परन्तु अब अपनी मुक्ति के लिये वैसा तीव्र आग्रह नहीं रहा। अब तो मन में केवल यही बात आती है कि जब तक धरती पर एक भी व्यक्ति मायाबद्ध है, तब तक मुझे अपनी मुक्ति की कोई आवश्यकता नहीं।[४८]

देखो, अपने भारत-भ्रमण के दौरान मेरी कई महात्माओं से भेंट हुई। उनमें से कई ऐसे थे, जिनमें दया और प्रेम का सागर लहरा रहा था। उनके चरणों में बैठकर मुझे प्रतीत होता था कि मेरे हृदय में शक्ति की अनन्त धारा प्रवाहित होने लगी है। आज तुम लोगों के सामने मैं जो थोड़े-से शब्द बोल रहा हूँ, वे उन महात्माओं के सान्निध्य से प्राप्त उस प्रबल धारा की कुछ बूँदें मात्र हैं। यह मत सोचना कि इसमें मेरी कोई निजी महत्ता है।[४९]

सदा विस्तार करना ही जीवन है और संकुचन मृत्यु। जो अपना ही स्वार्थ देखता है, आरामतलब है, आलसी है, उसके लिए नरक में भी जगह नहीं है। और जिसमें जीवों के लिए इतनी करुणा है कि वह खुद उनके लिए नरक में भी जाने को तैयार रहता है, उनके लिए कुछ उठा नहीं रखता, वही श्रीरामकृष्ण की सन्तान है, **इतरे कृपणाः** – बाकी लोग तो हीन बुद्धिवाले हैं।

जो इस आध्यात्मिक जागृति के सन्धि-काल में कमर कसकर खड़ा हो जायगा, गाँव-गाँव, घर-घर उनका संवाद देता फिरेगा, वही मेरा भाई है, वही 'उनका' पुत्र है। यही कसौटी है – जो रामकृष्ण के पुत्र हैं, वे अपना भला नहीं चाहते, वे प्राण निकल जाने पर भी दूसरों की भलाई चाहते हैं – **प्राणात्ययेऽपि पर-कल्याण-चिकीर्षवः**। जिन्हें अपने ही आराम की सूझ रही है, जो आलसी हैं, जो अपनी जिद के सामने सबका सिर झुका हुआ देखना चाहते हैं, वे हमारे कोई नहीं। समय रहते वे हमसे पहले ही अलग हो जायें, तो अच्छा। श्रीरामकृष्ण के चरित्र, उनकी शिक्षा और उनके धर्म को इस समय चारों ओर फैलाते जाओ – यही साधन है, यही भजन है, यही साधना है, यही सिद्धि है।[५०]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

३४. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ९, पृ. २५०; **३५.** वही, खण्ड ६, पृ. १२३; **३६.** वही, खण्ड ६, पृ. २३२; **३७.** वही, खण्ड ६, पृ. १५६; **३८.** वही, खण्ड ५, पृ. २०७; **३९.** वही, खण्ड ५, पृ. २०८; **४०.** वही, खण्ड ५, पृ. २०९; **४१.** वही, खण्ड २, पृ. ३२५-२६; **४२.** वही, खण्ड ६, पृ. १९५; **४३.** वही, खण्ड ६, पृ. २१४-१६; **४४.** वही, खण्ड २, पृ. ३६०; **४५.** वही, खण्ड ९, पृ. ३८१; **४६.** Swami Vivekananda in the West : New Discoveries, Advaita Ashrama, 1999, Vol 2, P. 363; वही, खण्ड ५, पृ. १२८-२९०; **४७.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृ. २०८; **४८.** Reminiscences of Swami Vivekananda, Ed. 2004, पृ. ३२५-२६; **४९.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, पृ. २८५; **५०.** वही, खण्ड ३, पृ. ३५५-५६

सच्ची भक्ति क्या है?

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

हम अपने पूजाघर में बैठकर भगवान का भजन करते हैं, और सोचते हैं कि हम भक्त हैं। हम मन्दिर में बैठकर भजन-कीर्तन करते हैं; और हमें लगता है कि हम भक्त हैं। लोगों के साथ मिलकर हम धार्मिक आयोजन करते हैं; और हम समझते हैं कि हम भक्त हैं। ये सब धारणाएँ सही हैं, परन्तु भक्ति की एक और भी अवस्था है, जिसे सही मायने में सच्ची भक्ति कहा जा सकता है। और वह है – ईश्वर को पूजाघर, मन्दिर और धार्मिक आयोजनों के बाहर भी देखना। यदि यह सही है कि यह जगत् ईश्वर से ही निकला है और उसी में स्थित है, तब इस संसार में ऐसा कुछ नहीं है, जो ईश्वर विरहित हो। संसार में सर्वत्र वही ईश्वर रमा है और उसकी भक्ति जैसे पूजाघर, मन्दिर और धार्मिक आयोजनों के माध्यम से की जा सकती है, वैसे ही अपने हर कर्म के माध्यम से भी। इस प्रकार सच्ची भक्ति की अवस्था वह है, जहाँ हमारा हर काम भगवान की पूजा बन जाता है।

गीता में अर्जुन को सारा उपदेश देने के बाद भगवान श्रीकृष्ण उपसंहार करते हुए कहते हैं –

स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।

अर्थात् – ''अपने अपने कर्म में लगे रह कर मनुष्य परम सिद्धि को पा लेता है। अपने कर्म में लगे रहकर वह किस प्रकार सिद्धि को प्राप्त करता है, वह उपाय तू मुझसे सुन। जिस सत्ता से सर्वभूतों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर को अपने कर्म द्वारा पूजा कर मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।''

जब व्यक्ति का हर कर्म भगवान् की पूजा बन जाता है, तब उसके लिए मन्दिर और प्रयोगशाला में भेद नहीं रह जाता। भगिनी निवेदिता स्वामी विवेकानन्द के समग्र ग्रंथ, जो हिन्दी में 'विवेकानन्द-साहित्य' के नाम से प्रकाशित हुए हैं, की भूमिका में लिखती हैं, ''यदि एक और अनेक सचमुच एक ही सत्य हैं, तो केवल उपासना के ही विविध प्रकार नहीं, वरन् सामान्य रूप से कर्म के भी सभी प्रकार, संघर्ष के भी सभी प्रकार, सर्जन के भी सभी प्रकार, सत्य-साक्षात्कार के मार्ग हैं। अत: अब आगे लौकिक और धार्मिक में कोई भेद नहीं रह जाता। कर्म करना ही उपासना है। विजय प्राप्त करना ही त्याग है। स्वयं जीवन ही धर्म है।''

वे आगे लिखती हैं, ''स्वामी विवेकानन्द की यही अनुभूति है, जिसने उन्हें उस कर्म का महान् उपदेष्टा सिद्ध किया, जो ज्ञान-भक्ति से अलग नहीं, वरन् उन्हें अभिव्यक्त करने वाला है। उनके लिए कारखाना, अध्ययन-कक्ष, खेत और क्रीड़ाभूमि आदि भगवत्-साक्षात्कार के वैसे ही उत्तम और योग्य स्थान हैं, जैसे साधु की कुटी या मन्दिर का द्वार। उनके लिए मानव-सेवा और ईश्वर की पूजा, पौरुष तथा श्रद्धा, सच्चा नैतिक बल और आध्यात्मिकता में कोई अन्तर नहीं है।... एक बार उन्होंने कहा था, 'कला, विज्ञान एवं धर्म एक ही सत्य की अभिव्यक्ति के त्रिविध माध्यम हैं'।'' अस्तु।

विदेशों की यात्रा से लौटने के बाद रामेश्वरम् के मन्दिर में भाषण देते हुए स्वामी विवेकानन्द ने भक्ति की व्याख्या करते हुए कहा था, ''वह मनुष्य जो शिव को निर्धन, दुर्बल तथा रुग्ण व्यक्ति में देखता है, वही सचमुच शिव की उपासना करता है, परन्तु यदि वह उन्हें केवल मूर्ति में देखता है, तो कहा जा सकता है कि उसकी उपासना अभी नितान्त प्रारम्भिक ही है। यदि किसी मनुष्य ने किसी एक निर्धन मनुष्य की सेवा-सुश्रूषा बिना जाति-पाँति अथवा ऊँच-नीच के भेदभाव के, यह विचार करते हुए कि उसमें साक्षात् शिव विराजमान हैं, तो शिव उससे अधिक प्रसन्न होंगे; उस दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा, जो उन्हें केवल मन्दिर में ही देखता है।''

आगे उन्होंने कहा था, ''जो व्यक्ति अपने पिता की सेवा करना चाहता है, उसे सबसे पहले अपने भाइयों की सेवा करनी चाहिए। इसी प्रकार जो शिव की सेवा करना चाहता है, उसे पहले उसकी सन्तान की, विश्व के प्राणीमात्र की सेवा करनी चाहिए। शास्त्रों में भी कहा गया है कि जो भगवान के दासों की सेवा करता है, वही भगवान का सर्वश्रेष्ठ दास है।''

यही सच्ची भक्ति का स्वरूप है।

धर्म-जीवन का रहस्य (२/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. में विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'धर्म' विषयक जो प्रवचन हुए थे, 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

करि प्रनामु तब रामु सिधाये ।
रिषि धरि धीर जनक पहिं आये ।।
राम बचन गुरु नृपहि सुनाये ।
सील सनेह सुभायँ सुहाये ।।
महाराज अब कीजिअ सोई ।
सब कर धरम सहित हित होई ।।
ग्यान निधान सुजान सुचि
धरम धीर नरपाल ।
तुम्ह बिनु असमंजस समन
को समरथ एहि काल ।। २/२९१

हमारे शास्त्रों में, बार-बार इस बात पर बल दिया जाता रहा है कि धर्म ही मनुष्य के कल्याण का परम हेतु है। भगवान वेदव्यास ने तो इतने महान् ग्रन्थ – महाभारत जैसे महान् दिव्य कोष की रचना करने के बाद निराशा भरे स्वर में एक वाक्य कहा। कभी-कभी महापुरुष के जीवन में ऐसा भी क्षण आता है कि लोगों की मन:स्थिति को देखकर वह विचलित हो जाता है और भगवान व्यास के स्वर में कह उठता है – मैं अपनी दोनों भुजाएँ उठाकर उच्च स्वर में घोषित करता हूँ, पर क्या करूँ – कोई मेरी बात सुनता ही नहीं! मेरा कहना है कि धर्म ही कल्याण का हेतु है। अर्थ और काम की उपलब्धि भी सही अर्थों में इसी (धर्म) के माध्यम से ही होती है। आप लोग उस धर्म का सेवन क्यों नहीं करते, पर लोग मेरी बात नहीं सुनते –

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष नैव कश्चित् शृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ।।

गोस्वामीजी ने भी इतने महान ग्रन्थ की रचना के बाद दोहावली रामायण (५४५) के एक दोहे में कुछ इसी स्वर में कहा। उसे उन्होंने एक ऐसी पद्धति से कहा कि जिससे थोड़ा भ्रम हो सकता है। उसका भावार्थ इस प्रकार है – मैं तो चाहता हूँ कि रामायण की शिक्षा का प्रचार हो, पर संसार तो महाभारत की रीति पर चल रहा है –

रामायन अनुहरत सिख, जग भयो भारत रीति ।।

इससे ऐसा भ्रम हो सकता है कि वे शायद महाभारत को कम और रामायण को अधिक महत्त्व देते हों। पर बात ऐसी नहीं है। वे जिस दृष्टि से यह कहते हैं, वह बड़े महत्त्व की है और हम आपके समक्ष उसी की चर्चा करने की चेष्टा करेंगे। उनके कहने का तात्पर्य यह था कि रामायण का तात्पर्य आदर्श है और लोग उसे जीवन में उतारने में हिचकिचाते हैं, क्योंकि उन्हें रामायण में तो ऐसा सन्देश मिलता प्रतीत होता है मानो भाई-को-भाई के लिये बड़ा-से-बड़ा त्याग कर देना चाहिये; परन्तु महाभारत से वे इतना ही पाठ ग्रहण कर लेते हैं कि भाई-भी-भाई के विरुद्ध लड़ सकता है। यदि हम अपने परिवार में लड़ते हैं, भाई के विरुद्ध लड़ते हैं, तो वह महाभारत के अनुकूल ही है। वे सही अर्थ और सही प्रेरणा नहीं लेते। वे कहते हैं कि जब भगवान व्यास यह कहते हैं – कोई मेरी बात नहीं सुनता, तो उन्होंने उसके साथ एक शब्द जोड़ दिया – जब लोगों ने व्यासजी की बात नहीं सुनी, तो इस दुष्ट तुलसीदास को भला कौन सुनेगा? –

रामायन अनुहरत सिख, जग भयो भारत रीति ।।
तुलसी सठ की को सुनै, कलि कुचालि पर प्रीति ।।

महापुरुषों के निराशा-भरे इन वाक्यों का भी उद्देश्य वस्तुत: लोगों को प्रेरणा देना ही है। शास्त्रों में धर्म की इतनी महिमा बताई गई, परन्तु कुछ लोगों को तो ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म का पालन करने वाले बहुधा कष्ट ही भोगते हैं। कुछ लोगों के जीवन में ऐसा लगता भी है कि शायद ये बड़े धार्मिक हैं, पर इनके जीवन में कष्ट है। इतिहास पढ़कर कुछ लोगों को ऐसा भी प्रतीत होता है कि धर्म के नाम पर और धर्म के माध्यम से समाज में न जाने कितने संघर्ष होते रहे हैं; इसका निष्कर्ष वे यह निकालते हैं कि यदि धर्म को किसी तरह जीवन से दूर कर दिया जाय, तो समाज सही दिशा में चलेगा। धर्म की निन्दा और आलोचना करके वे इसी की चेष्टा करते हैं। चिन्तन का एक पक्ष यह भी है।

प्रारम्भ की पंक्तियाँ जिस प्रसंग से चुनी गई हैं, उस प्रसंग के सन्दर्भ में भी एक समस्या है। चित्रकूट में उस समस्या का समाधान ढूँढ़ने की चेष्टा की गई। श्रीराम का वनगमन – इसके मूल में क्या है? यही कहा जा सकता है कि 'धर्म' है। उस युग में भी यह प्रश्न था। शास्त्रों ने कहा – 'सत्य' सबसे बड़ा धर्म है। रामायण में भी यही कहा गया –

धरमु न दूसर सत्य समाना ।। २/९५/५

अयोध्याकाण्ड का प्रत्येक पात्र, आदि से लेकर अन्त तक सत्य की महिमा का गायन करता है। एक विशेषता यह है कि इसका श्रीगणेश मन्थरा से होता है। वह भी सत्य की महिमा का वर्णन करती है। मन्थरा कैकेयी से उलाहना देते हुए कहती है कि वस्तुत: मैं तो सत्य बोलती हूँ, पर मेरा यह दुर्भाग्य है कि आपको तो झूठ बोलने वाले अत्यन्त प्रिय हैं और मैं कड़वी लगती हूँ –

कहहिं झूठि फुरि बात बनाई ।
ते प्रिय तुम्हहि करुइ मैं माई ।। २/१६/३

इस प्रकार मन्थरा भी स्वयं को सत्यवादी मानती है। उसी से सत्य की महिमा शुरू हुई और उसके बाद तो बार-बार सत्य की ही दुहाई दी जा रही है। महाराज दशरथ भी आकर सत्य की सराहना करते हुए कहते हैं कि रघुवंशियों की सत्य में अटल आस्था है। उनमें सदा से यह रीति चली आई है कि प्राण भले ही चले जाएँ, पर वचन नहीं जाता –

रघुकुल रीति सदा चलि आई ।
प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई ।। २/२८/४

रघुवंशी कभी असत्य भाषण नहीं करता। और बाद में कैकेयी जी दशरथ को उलाहना देते हुए कहती हैं – सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है, इसे आप ने स्वयं स्वीकार किया। शास्त्र भी यह कहते हैं, तो आप सत्य की रक्षा क्यों नहीं करते? सत्य की बड़ी सराहना करके वर देने को कहा था, तो क्या आपने यही समझा था कि यह चबेना माँग लेगी –

सत्य सराहि कहेहु बरु देना ।
जानेहु लेइहि मागि चबेना ।।२/३०/६

इसका परिणाम यह हुआ कि सत्य की रक्षा के लिये ही श्रीराम का वन गमन होता है। उसके बाद महाराज दशरथ की मृत्यु होती है। प्रजा अपने को अनाथ अनुभव करती है। अयोध्या में शोक का साम्राज्य छा जाता है। तब भरतजी चित्रकूट में उसका दूसरा पक्ष लेकर सामने आते हैं कि धर्म वस्तुत: है क्या? यदि सत्य ही सबसे बड़ा धर्म है, तो सत्य का अभिप्राय क्या है? और सत्य के पालन का क्या परिणाम होना चाहिये? अयोध्या में सत्य के जो परिणाम हुए हैं, क्या उन्हें सचमुच ही सत्य के परिणाम के रूप में देखा जाना चाहिये? चित्रकूट में इस प्रकार का एक चिन्तन हमारे समक्ष आता है। उस स्थिति में गुरु वशिष्ठ जैसे आचार्य, जो धर्म के निर्णायक हैं, वे स्वयं भी बड़ी उलझन की स्थिति का अनुभव करते हैं। क्योंकि उनको ऐसा भी लगने लगता है कि धर्म के विषय में श्रीराम की मान्यता महाराज दशरथ से कुछ भिन्न है। उनकी स्वयं की अपनी एक दृष्टि थी। ऐसी स्थिति में वस्तुत: धर्म क्या है? फिर जब महाराज जनक आते हैं, तो लगता है कि वे तो एक महान् ज्ञानी हैं, क्यों न उनसे भी इस विषय में राय ली जाय? गुरु वशिष्ठ ने ऐसा अनुभव किया कि भरत और राम – दोनों ही तो उनके अपने हैं। किसी के प्रति भी उनके मन में पक्षपात का कोई प्रश्न नहीं उठता। जनक तत्त्वज्ञ हैं, निष्काम कर्मयोगी हैं, इसीलिये वे महाराज जनक की प्रशंसा करते हुए बोले – आप ज्ञान के भण्डार, सुजान, पवित्र और धर्म में धीर हैं, इस समय आपके बिना इस दुविधा को दूर करने में कौन समर्थ है –

ग्यान निधान सुजान सुचि धरम धीर नरपाल ।
तुम्ह बिनु असमंजस समन को समरथ एहिकाल ।।२/२९१

उन्होंने सूत्र दिया – आप कुछ ऐसा निर्णय दें, जिससे सबके धर्म की रक्षा हो और सबका हित हो। इसी पंक्ति को केन्द्र बनाकर धर्म के सम्बन्ध में, धर्म के सन्दर्भ में मानस में जिस अति सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया गया है, उनमें से कुछ बातें आपके सामने रखी जा रही हैं।

हमने देखा कि दशरथ बनने वाला व्यक्ति भी यदि मनु के रूप में धर्मप्राण था, तो प्रतापभानु राजा के चरित्र में भी जिस बात का वर्णन किया गया, उसमें भी एक ऐसा ही परिचय मिलता है कि उसका भी अत्यन्त धर्मयुक्त जीवन था। किन्तु ऐसा कैसे हुआ कि एक व्यक्ति धर्म का पालन करते हुए दूसरे जन्म में दशमुख रावण बन गया। यह एक ऐसा प्रसंग है, जिस पर गहराई से दृष्टि डालने पर ही धर्म का सच्चा स्वरूप समझा जा सकता है। कई बार लोग मुझसे कहते हैं कि प्रतापभानु का प्रसंग तो हमें इतना नीरस लगता है कि समझ में नहीं आता कि गोस्वामीजी ने इसे लिखने की आवश्यकता ही क्यों अनुभव की? उत्तर में मैं यही कहता हूँ कि यह आवश्यक नहीं है कि आपको सरस ही लगे। भोजन की हर वस्तु में यदि सरसता ही अपेक्षित है, औषधि में यदि आप स्वाद ही ढूँढ़ते रहें, तो यह कोई बुद्धिमत्ता नहीं है।

काशी के एक बड़े प्रसिद्ध वैद्य थे। एक सज्जन उनके पास पहुँचे, समृद्ध भी थे, उनके यहाँ आते भी थे, पर जब उन्होंने वैद्यजी से कहा कि ऐसा बढ़िया कोई स्वादिष्ट चूर्ण दीजिये, जिससे मन प्रसन्न हो जाय। तो वैद्यजी उन्हें डाँटते हुए बोले कि चूरन लेने के लिये तो तुम्हें सड़क के किनारे खोमचे वालों के पास जाना चाहिये, यहाँ आने के लिये कोई आवश्यकता नहीं थी। क्या तुम समझते हो कि मैं चूरन-चटनी बेचने के लिये यहाँ बैठा हूँ? मैं तो रोग की चिकित्सा करने के लिये बैठा हुआ हूँ। कोई चूर्ण स्वादिष्ट हो सकता है और नहीं भी, पर इसका निर्णय तो मुझे करना है कि किसी व्यक्ति को कौन-सा चूर्ण दिया जाय। तुम पहले ही कहने लगे कि मुझे स्वादिष्ट चूर्ण दीजिये। बात तो उन्होंने बड़ी अच्छी कही। वही बात इस सन्दर्भ में भी है। रामायण में भी

यदि आप केवल चूरन-चटनी ही ढूँढ़ रहे हैं, तब तो आप उसके साथ न्याय नहीं कर रहे हैं। आप उस प्रसंग की गरिमा पर, गहराई पर जरा दृष्टि डालिये।

धर्म के सन्दर्भ में पहले यह निर्णय किया जाना चाहिये कि धर्म का उद्देश्य क्या है? धर्म का परिणाम क्या है? और हम कैसे अनुभव करें कि हमारे जीवन में सच्चे अर्थों में धर्म का पालन हुआ? इसका एक सूत्र आपको मनु के चरित्र में और इससे भिन्न पक्ष प्रतापभानु के चरित्र में मिलेगा। वह सूत्र वृद्ध होने पर बहुधा दिखाई देता है। अधिकांश लोगों के जीवन में वृद्धावस्था आने से पहले ही यह सोचकर उसका आतंक व्याप्त हो जाता है – वृद्ध हो जाऊँगा, बूढ़ा हो जाऊँगा, तब क्या होगा? वे बेचारे बहुत दिनों से ही चिन्तित रहा करते हैं और वृद्ध हो जाने के बाद अधिकांश व्यक्ति क्षुब्ध और दु:खी दिखाई देने लगते हैं। उनको लगता है कि वृद्धावस्था एक अभिशाप है। वे अपने आपमें बड़ा एकाकीपन महसूस करते हैं, उपेक्षा का अनुभव करते हैं, निराशा का अनुभव करते हैं और उन्हें ऐसा लगता है मानो वे जीवन का भार ढो रहे हों। महाराज मनु भी वृद्ध हुए। अब उनकी दृष्टि क्या है? मनु की दृष्टि का तात्पर्य यह है कि सारी मानव-जाति की चिन्तन की जो दिशा होनी चाहिये, वह मनु के माध्यम से प्रगट की गई। अभी नरसिंहगढ़ में था, तो वहाँ एक पत्रकार महोदय ने मुझसे पूछा – महाभारत और रामायण में क्या अन्तर लगता है? मैंने कहा – अन्तर का रूप यही है कि महाभारत का अर्थ है – जैसा जीवन में होता है और रामायण का अर्थ यही है – जैसा जीवन में होना चाहिये। किस तरह से मानव-जीवन क्रिया-प्रतिक्रिया से बँधा हुआ है और उसकी परिणति किस दिशा में होती है, यही महाभारत का युद्ध है; और रामायण का तात्पर्य यह है कि हम यदि अपनी दिशा को सही रखेंगे, सही चिन्तन होगा, तो उसकी परिणति रामराज्य के रूप में होगी। संयोगवश पिछले वर्षों में रामराज्य का प्रसंग आपके सामने चलता रहा है।

इसके उल्टा सूत्र प्रतापभानु के चरित्र में मिलता है। वन में जब प्रतापभानु की कपटमुनि से भेंट होती है, तो मुनि ने पूछा – क्या आप कुछ चाहते हैं? प्रतापभानु बोला – वैसे तो मुझे सब कुछ प्राप्त है, पर आप जैसा महात्मा पाकर और आप जब स्वयं मुझसे पूछ रहे हैं, तो मुझे कुछ माँगना ही चाहिये। यह कहकर उसने एक छोटी-सी सूची प्रस्तुत की। सूची छोटी-सी थी और उसमें माँगें भी केवल दो-चार ही थीं। पहली थी कि हम बूढ़े न हों। प्रतापभानु कपटमुनि से कहता है – मैं बूढ़ा न होऊँ, मैं न मरूँ, मुझे कोई युद्ध में परास्त न करे और मेरा राज्य सौ कल्पों तक रहे –

जरा मरन दुख रहित तनु, समर जितै जनि कोउ।
एकछत्र रिपुहीन महि, राज कल्प सत होउ।। १/१६४

उसने यह मान लिया कि धर्म या महात्माओं के संग का परिणाम यह होना चाहिये कि व्यक्ति कभी बूढ़ा न हो, उसकी कभी मृत्यु न हो, उसे जीवन में कभी पराजित न होना पड़े और उसके जीवन में कभी कोई समस्या न आये। प्रतापभानु की यह माँग ही सिद्ध करती है कि धर्म और उसके परिणाम के विषय में उसके पास सही दृष्टि नहीं है। यदि होती, तो वह ऐसी माँग न करता। यह माँग सही क्यों नहीं है?

धर्म शब्द तो बड़े व्यापक अर्थवाला है। जैसे शरीर है, तो उसका भी अपना धर्म है। वृद्धावस्था क्या है? जैसे अग्नि का जो गुण है, वह है दाहकता। दहकना ही तो अग्नि का धर्म है। यदि हम चेष्टा करें कि अग्नि अपने स्वभाव को छोड़ दे, तो अपवाद के रूप में कभी ऐसी घटनाएँ हुई हैं, हो सकती हैं, पर वह नियम नहीं बन सकती। यदि अग्नि में दाहकता है, तो हमें सोचना चाहिये कि हम उसकी दाहकता का सदुपयोग कैसे करें? बस, यह सूत्र बना रहे। अग्नि में उष्मा है, अग्नि में ताप है, अग्नि में दाहकता है और बुद्धिमान व्यक्ति नित्य ही अग्नि का उपयोग करता है। घर के भोजन से लेकर अन्तिम मरणोपरान्त शरीर का दाह – इन सबसे अग्नि जुड़ी हुई है। इस प्रकार व्यक्ति के जीवन में अग्नि के अनेक उपयोग होते हैं। ऐसी स्थिति में हम धर्म के इस मूल रहस्य को जान लें कि शरीर का भी अपना धर्म है।

आप इस पर गहराई से दृष्टि डालें, और मनु के चिन्तन में यही विशेषता है। उन्हें यह चिन्ता नहीं हुई कि अरे, मैं तो बूढ़ा हो गया, अब मैं क्या करूँ? ऐसा कोई आतंक नहीं। साहित्य में कभी-कभी दिखता है कि बेचारे लोग वृद्धावस्था में कितना अभिशप्त अनुभव करते हैं। पढ़कर बड़ा आश्चर्य होता है। रामचन्द्रिका के रचयिता, इतने प्रसिद्ध कवि केशवदास, लेकिन किसी युवती ने उनसे पूछ दिया – बाबा, कैसे हैं? तो वे बेचारे प्रश्न सुनकर प्रसन्न नहीं हुए कि मुझसे कुशल पूछा। उनका कविस्वर व्याकुल होकर फूट पड़ा। बोले – मेरे सफेद बालों ने मुझसे ऐसा व्यवहार किया है, जो शायद शत्रु भी न करे – आज सुन्दरियाँ मुझे बाबा कहने लगी हैं –

केसव केसनि असि करी जस अरिहूँ न कराहि।
चन्द्रबदन मृगलोचनी बाबा कहि-कहि जाहिं।।

जीवन की यह कितनी बड़ी विडम्बना है। बेचारे इतने बड़े विद्वान्, इतने बड़े कवि और 'बाबा' शब्द में कितना समादर है। बाबा शब्द में सामनेवाले के प्रति कितनी श्रद्धा व्यक्त होती है, पर उन्हें लगता है कि यदि मेरे ये बाल सफेद नहीं हुए होते, तो शायद ये शब्द न सुनने पड़ते। ये हमारे बाल श्वेत क्यों हो गये, ये तो मेरे शत्रु हो गये हैं।

श्वेत बाल तो दशरथ के भी हुए, महाराज मनु जब दशरथ के रूप में भी बूढ़े हुए, तब उनके भी बाल श्वेत हो गये थे। तब उन्होंने यह नहीं देखा कि ये श्वेत बाल मेरे शत्रु

हैं। रामायण में लिखा हुआ है कि सिंहासन पर बैठे हुए महाराज दशरथ ने जब दर्पण में अपना मुख देखा, तो उनको दिखा कि कान के पास के बाल सफेद हो गये हैं –

श्रवन समीप भये सित केसा ।। २/२/७

तब उन्होंने वही अर्थ लिया, जो लेना चाहिये। बाल काले भी होते हैं, सफेद भी होते हैं, पर उन्होंने सोचा कि बाल जब तक काले हैं, तब तक शायद तमोगुणी होंगे, पर सत्त्व का रंग तो श्वेत है। जब तक ये काले थे, शायद वे बात न कह पाते हों, पर आज ये श्वेत केश मुझे उपदेश दे रहे हैं। कह रहे हैं कि अब तुम यह राज्य राम को सौंप दो।

एक व्यक्ति ने वृद्धावस्था को संकेत या उपदेश के रूप में स्वीकार किया और उसके द्वारा मनु के जीवन में त्याग की वृत्ति का उदय हुआ, दशरथ के जीवन में त्याग की प्रेरणा प्राप्त हुई। यह एक संकेत सूत्र है कि वस्तुत: अपने जीवन में होनेवाली घटनाओं का हम अर्थ क्या लेते हैं? शास्त्रों में सद्गुरु की बड़ी प्रशंसा की गई है और कई लोग परम्परया गुरु की खोज में रहा करते हैं। उनके लिये यह भी अनेक कामों में से एक काम है कि यह भी पूरा हो जाना चाहिये। कई बेचारे इन उलझन में रहते हैं कि क्या कहें, आजकल सद्गुरु मिलते ही नहीं, सन्त मिलते ही नहीं, तो गुरु किसे बनायें? मुझे इस सन्दर्भ में स्वामी शरणानन्दजी महाराज की याद आती है। वे बड़े ही प्रज्ञाचक्षु थे। उनकी उत्तर देने की शैली बड़ी अद्भुत और अनोखी थी। वे बड़ा सटीक उत्तर दिया करते थे। एक बार कोई बड़े समृद्ध सज्जन उनके पास गये और कहने लगे – महाराज, पहले जैसे महात्मा होते थे वैसे आजकल क्यों नहीं होते? यह कितना अशिष्टतापूर्ण प्रश्न था। एक महात्मा के पास जाकर आप यह कह रहे हों कि पहले जैसे महात्मा होते थे, वैसे अब नहीं होते। क्यों नहीं होते? इसका अर्थ है कि पूछने वाला तो जानता ही नहीं कि किन शब्दों में क्या पूछा जाना चाहिये। परन्तु वे हँस पड़े, बड़े विनोदी स्वभाव के भी थे। कहने लगे – भाई, इसका कारण यह है कि पहले जो महात्मा होते थे, वे तुम जैसे धनी, तुम जैसे बड़े व्यक्तियों के घर से आते थे और वे सब कुछ छोड़कर आते थे, भोग से सन्तुष्ट होकर आते थे, इसलिये बड़े उच्चकोटि के महात्मा तुम्हें मिले होंगे। पर तुम लोगों ने अपने घर से महात्माओं का निकलना बन्द कर दिया है, तो हम जैसे दुष्ट ही महात्मा बन जाते हैं। बात उन्होंने बहुत बड़ी कह दी – महात्मा तुम चाहते हो, पर अपने घर से या दूसरे के घर से? वही मापदण्ड वाली बात, हर व्यक्ति को अच्छा महात्मा चाहिये, अच्छा महापुरुष चाहिये, पर ऐसा चाहने वाले बिरले ही होंगे कि वह महापुरुष मेरे घर में जन्म ले, वह महात्मा मेरा ही पुत्र बन जाय। ऐसे लोग तो बहुत गिने-चुने ही हो सकते हैं। वस्तुत: हम अपने अन्तर्मन में किस तरह के उलझनों से भरे हुए हैं, यह इसी का परिचायक है। तो फिर सद्गुरु कहाँ मिले? इसका उत्तर एक ही है कि एक सद्गुरु तो निरन्तर हमारे साथ हैं। अन्य सद्गुरु जब मिलें, तो आप उनका वरण करें, उनसे प्रेरणा प्राप्त करें, पर एक गुरु जो निरन्तर साथ हैं, यदि हम उनसे सीखना चाहें, तो चौबीसों घण्टे सीख सकते हैं। वे गुरु कौन हैं? यह जो शरीर है, यह भी हमारा गुरु है।

गुरु का क्या अर्थ है? पुराणों में वर्णन आता है कि महापुरुषों ने जहाँ अनेक गुरुओं की चर्चा की, वहाँ उन्होंने कहा कि शरीर भी एक गुरु है। रामायण में भी उसे एक बड़े ही सांकेतिक भाषा में प्रस्तुत किया गया है। भगवान श्रीराम सेना लेकर लंका की ओर अभियान कर रहे हैं। वे समुद्र के किनारे पहुँचे हुए हैं। पर समस्या है कि समुद्र को कैसे पार किया जाय? समुद्र और लंका का एक तो भौगोलिक रूप हुआ और इसका दूसरा आध्यात्मिक तात्पर्य भी है। गोस्वामीजी विनय-पत्रिका में यह कहते हैं कि इतिहास और भूगोल से जुड़ी लंका को लेकर तो विवाद हो सकता है कि वह रामायण काल में कहाँ थी, परन्तु एक लंका तो प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में है। और उन्होंने कहा कि 'सुप्रवृत्ति लंका दुर्ग' हमारे जीवन में है, प्रवृत्ति का जो आकर्षण है, जिस स्वर्णिम कल्पना से प्रेरित होकर, हम सब कर्म किया करते हैं, वह प्रवृत्ति ही चार सौ कोस की सोने की लंका है। हर व्यक्ति जब कोई कर्म करता है, तो उसके मन में कोई-न-कोई स्वर्णिम कल्पना होती है – हम ऐसा करेंगे, तो ऐसा होगा, ऐसा होगा। यह स्वर्णिम कल्पना ही हमारी प्रवृत्तियों के मूल में है और वही मानो लंका है। पूछा गया कि यह समुद्र क्या है? तो उन्होंने विनय पत्रिका में सूत्र देते हुए कहा – देह और देहाभिमान ही समुद्र है –

कुणप अभिमान सागर भंयकर घोर
विपुल अवगाह दुस्तर अपारं ।।५८।।

सीताजी लंका में हैं। सीताजी मानो मूर्तिमान शान्तिस्वरूपा हैं। शान्ति को प्रत्येक व्यक्ति पाना चाहता है। परन्तु समस्या यह है कि उसे कैसे पाया जाय। सारे शास्त्रों ने कहा कि निवृति में ही शान्ति है। शान्ति की सर्वश्रेष्ठ महिमा बताते हुए कहा गया कि त्याग के बाद ही मनुष्य के जीवन में शान्ति का उदय होता है, त्याग के द्वारा शान्ति मिलती है –

त्यागात् शान्तिः अनन्तरम् ।। गीता, १२/१२

त्याग या निवृत्ति ही शान्ति प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग है। लंका प्रवृत्तिमयी नगरी है। प्रवृत्ति में रहकर शान्ति मिल सकती है क्या? चित्रकूट में सीताजी का दर्शन या मिथिला में सीताजी का दर्शन या अयोध्या में सीताजी का दर्शन – सबका अलग-अलग तात्पर्य है। चित्रकूट निवृत्ति की भूमि है और त्रिकूट, जिस पर लंका बसा हुआ है, वह प्रवृत्ति की

भूमि है। भरतजी उस निवृत्ति की भूमि में जाते हैं और वे शान्तिरूपा सीता का दर्शन करते हैं। उनका आशीर्वाद भी प्राप्त करके धन्य हो जाते हैं, कृतकृत्य हो जाते हैं।

पर यहाँ लंका में सबसे बड़ी समस्या यह है कि रावण भी तो उन्हीं – शान्तिरूपा सीताजी को ही पाना चाहता है, लेकिन अपने चाहने की पद्धति से रावण ने अपने तथा लंका के जीवन में जितनी अशान्ति उत्पन्न कर ली, उसका भी अर्थ यही है कि हम जो पाना चाहते हैं, यह तो महत्त्वपूर्ण है ही, पर साथ ही उसको पाने की कौन-सी सही पद्धति है – उसका महत्त्व भी तो कम नहीं है। हम कहाँ जाना चाहते हैं, यह तो निर्णय करना ही होगा। पर वहाँ जाने के लिये हम किस मार्ग से जायेंगे, यह निर्णय हुए बिना हम लक्ष्य तक कैसे पहुँच सकते हैं? इसलिये रावण जब शान्तिरूपा सीता को पाने के लिये सही मार्ग का अवलम्बन नहीं करता, सीताजी का हरण करके लंका में ले आता है, तो उसके बाद लंका में भयानक अशान्ति व्याप्त हो जाती है।

इधर हनुमानजी को यह भार सौंपा गया और वे प्रवृत्ति के उस दुर्ग में जाकर सीताजी का पता लगायें। हनुमानजी ने इसमें सफलता प्राप्त की। जिस अशोक वाटिका में सीताजी ने रावण की ओर दृष्टि उठाकर भी नहीं देखा, वहीं जगज्जननी सीताजी ने हनुमानजी को आशीर्वाद दिये। माँ ने एक तो चित्रकूट में भरतजी को आशीर्वाद दिया और दूसरा इस त्रिकूटमयी लंका में हनुमानजी को आशीर्वाद दिया। चित्रकूट का आशीर्वाद गुप्त है। उसके लिये गोस्वामीजी ने एक भिन्न भाषा का प्रयोग किया है। भरतजी जाकर किशोरीजी के चरणों में बार-बार प्रणाम करते हैं और माँ ने उन्हें उठाकर उनके सिर पर हाथ फेरकर बैठाया और उन्हें मन-ही-मन आशीर्वाद दिया, क्योंकि वे स्नेह में मग्न हैं, उन्हें देह की सुध-बुध नहीं है। सीताजी को सब प्रकार से अपने अनुकूल देखकर भरतजी सोचरहित हो गए –

पुनि पुनि करत प्रनाम उठाए।
सिर कर कमल परसि बैठाए।।
सीयँ असीस दीन्हि मन माहीं।
मगन सनेहँ देह सुधि नाहीं।।
सब बिधि सानुकूल लखि सीता।
भे निसोच उर अपडर बीता।। २/२४१/४-६

एक दिव्य स्थिति का अनुभव; शब्द वहाँ पर मौन हैं। न भरतजी वहाँ पर वाणी का प्रयोग करते हैं, न माँ वाणी का प्रयोग करती हैं। भरतजी ने बिना बोले जो चाहा, माँ ने वह दे दिया। इस दिव्य भूमि में जो मिला, वह अद्भुत-अनुपम ही रहा होगा। पर यदि आप वाणी का सर्वश्रेष्ठ उपयोग देखना चाहें, तो वह हनुमानजी के चरित्र में मिलेगा। अशोक वाटिका में जैसे वाणी का सदुपयोग है, वैसे ही चित्रकूट में मौन का सर्वश्रेष्ठ उपयोग है। अशोक वाटिका में वाणी का सर्वश्रेष्ठ तथा अद्भुत प्रयोग है। उस प्रसंग में वाणी का श्रीगणेश कैसे होता है – हनुमानजी श्रीराम के गुणों का वर्णन करने लगे। कथा इतनी मधुर थी कि सीताजी के सारे दुःख दूर हो गये। वे कान और मन लगाकर कथा सुनने लगीं। हनुमानजी ने आदि से अन्त तक सारी कथा सुनाई –

रामचंद्र गुन बरनैं लागा।
सुनतहिं सीता कर दुख भागा।।
लागीं सुनैं श्रवन मन लाई।
आदिहु तें सब कथा सुनाई।। ५/१३/५-६

इस प्रकार वाणी के इस दिव्य उपयोग से कथा प्रारम्भ हुई और उसकी परिणति महान् आशीर्वाद में हुई – पुत्र! तुममें बल आ जाय! शील आ जाय! तुम अजर हो जाओ! अमर हो जाओ और सारे गुण तुममे निवास करें! श्रीराम तुमसे प्रेम करें! रघुनाथजी तुम पर बहुत कृपा करें – ऐसा सुनते ही हनुमान्जी प्रेमरस में डूब गये –

होहु तात बल सील निधाना।
अजर अमर गुननिधि सुत होहू।।
करहुँ बहुत रघुनायक छोहू।।
करहुँ कृपा प्रभु असि सुनि काना।
निर्भर प्रेम मगन हनुमाना।। ५/१७/३-५

बिल्कुल अनोखी-सी बात है। निवृत्ति-परायण हनुमानजी को प्रवृत्ति-लंका में पैठने के लिये भेज दिया गया। बड़ा कठिन काम सौंपा गया। इधर भरतजी गृहस्थ हैं, तो कह सकते हैं कि वे प्रवृत्ति में हैं। हनुमानजी बालब्रह्मचारी हैं, वे निवृत्ति में हैं। जो प्रवृत्ति में था, उसने निवृत्ति में सीताजी को ढूँढा, पाया और कृतकृत्य हुआ। दूसरी ओर निवृत्ति-परायण हनुमानजी को प्रवृत्ति की भूमि में जाने का कठिन काम सौंपा गया था। प्रवृत्ति की भूमि में जाकर वहाँ सीताजी को ढूँढ़ना और उनका आशीर्वाद प्राप्त करना बड़ा कठिन कार्य है।

यदि आपसे कहा जाय कि सावधान रहिये, नदी के जल में न घुसिये, भीग जायेंगे तो अस्वस्थ होने का भय है – यह तो एक बात हुई। पर यदि आपसे कहा जाय कि आप नदी में गोता लगाइये पर भीगियेगा नहीं, तब तो वह एक बड़ा कठिन कार्य हो गया। हनुमानजी की भूमिका सचमुच ही बड़ी कठिन थी। पर वे धन्य हुए। वहाँ एक संकेत सूत्र है। वहाँ पहुँचने के लिये हनुमानजी को इस समुद्र को पार करना पड़ा, जिसे पार करने में कोई और बन्दर सक्षम नहीं था।

यह समुद्र क्या है? देह और देहाभिमान ही वह समुद्र है। मैं देह हूँ – यह धोखा प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में दृढ़ है। यही दृढ़ धारणा देह और आत्मा की अभिन्नता को लेकर भी है। यह मानो इतना विशाल समुद्र है कि बड़ा-से-बड़ा विद्वान् साधक भी इसे पार करने में असमर्थ हो जाता है।

इसलिये एक सूत्र आपको इस सन्दर्भ में मिलेगा, हनुमानजी ने ज्योंही माँ का आशीर्वाद प्राप्त किया, तो बोले – अब 'कृतकृत्य भएउँ' – मैं कृतकृत्य हो गया। यह कृतकृत्यता ही साधना की चरम परिणति है। परन्तु अकेले हनुमानजी जैसे एक वैराग्यवान महापुरुष ही तो कृतकृत्य हुए।

वहाँ संकेत है कि हनुमानजी ने समुद्र में प्रवेश नहीं किया। उन्होंने समुद्र में भी छलांग लगाई। वह रामायण की सांकेतिक भाषा है। पर पहले तो वे समुद्र के ऊपर-ऊपर ही उस पार पहुँच गये। इसका सीधा-सा तात्पर्य यह है कि उन्होंने देहाभिमान और देह का स्पर्श किये बिना ही देहवृत्ति से ऊपर उठकर उस लंका में प्रवेश किया और वैदेही की कृपा प्राप्त की। **वैदेही की कृपा प्राप्त करनी है और उसमें बाधक है देह-समुद्र**। हनुमानजी देह से ऊपर उठते हैं, वैदेही की कृपा प्राप्त करते हैं और अनुभव करते हैं कि मैं कृतकृत्य हो गया।

परन्तु सन्त चाहते हैं कि वह कृतकृत्यता केवल किसी एक के, या केवल मेरे जीवन में नहीं, बल्कि सबको उस कृतकृत्यता की अनुभूति हो। यही सन्त की भूमिका होती है। इसीलिये हनुमानजी लौटकर आते हैं और प्रभु से आग्रह करते हैं कि वे लंका में चलें। और अन्त में लंकाकाण्ड में रावण के वध के बाद उसकी परिणति होती है।

उसके बाद जब सीताजी भगवान राम के वाम भाग में विराजमान हैं, उस समय जो वाक्य कहा गया, उसमें यह सूत्र दिया गया है कि पहले तो एकमात्र हनुमानजी ही कृतकृत्यता का अनुभव करते हैं, परन्तु रावण-वध के बाद ब्रह्माजी भगवान राम की स्तुति करते हुए कहते हैं – ये सभी वानर कृतकृत्य हो गये हैं –

कृतकृत्य विभो सब बानर ए।। ६/११०/६-९

कृतकृत्यता की इस स्थिति तक पहुँचने के लिये देहाभिमान के सागर को पार करना होगा।

❖ (क्रमशः) ❖

धन्य वही मन

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

मन का ही सब खेल जगत में
साध सको, तो साधो मन को।

मन ही बन्धन और मोक्ष का
कारण है इस भव-कानन में।
शक्ति असीमित भरी हुई है
वानर-सम इस चंचल मन में।।

मन को करके आत्मनियंत्रित,
सुफल करो इस मानव-तन को।।

जिसने मन को साधा, उसने
जीवन का श्रेयस फल पाया।
धन्य वही मन, जो पंकज-सम
निकल पंक से ऊपर आया।।

मन के बनकर दास, मनुज,
तुम व्यर्थ करो मत इस जीवन को।।

मन को साध-समेट सहज ही
आत्मदेव की ओर लगा दो।
नित्य लोकमंगल हो जिससे जग में
वह शुभ ज्योति जगा दो।।

कपट-कलह-कालुष्य छोड़कर
प्राप्त करो लोकोत्तर धन को।।

मन को मार सको, ऐसा तो
नहीं कदापि सहज है प्यारे।
ऊर्ध्वमुखी कर आत्मतत्त्व से
मन के तार मिला दो सारे।।

तब तो तुम 'मधुरेश' सहज ही
प्राप्त करोगे आनँदघन को।।
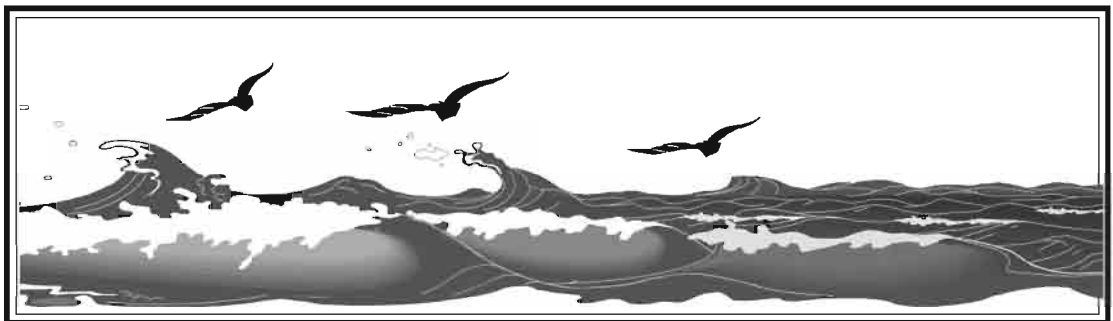
सारगाछी की स्मृतियाँ (१७)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुये वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और ब्रह्मचारी बोधमय चैतन्य ने किया है, जिसे विवेक ज्योति के पृष्ठों में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – संपादक)

५-१-१९६०

सेवक – महाराज, जो लोग ठाकुर के समय दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर में थे, क्या उन लोगों की भी मुक्ति होगी?

महाराज – नहीं, जिन पर ठाकुर जी की कृपा-दृष्टि थी, केवल उन लोगों की ही होगी।

सेवक – क्या यदुलाल मल्लिक पर कृपा-दृष्टि थी?

महाराज – नहीं थी? वे स्वयं उनके घर गये। बीच में यदुलाल थोड़े भोगोन्मुख हुये थे, बाद में सुधर गये थे। किन्तु वह भी निवृत्तिमूलक है। थोड़ा-सा भोग बचा था, वह पूरा हो गया। हम लोगों के जो कर्म हैं – वे सब कर्म-क्षय के लिये हैं, ये कर्म समाप्त करने के लिये भोग हैं, ये क्षयमुखी कर्म हैं। इससे इस जन्म में या बहुत अधिक तो अगले जन्म में मुक्ति हो जायेगी।

सेवक – महाराज, हमलोगों के संघ में यह जो कर्म बढ़ रहा है, यह अच्छा है या बुरा?

महाराज – अच्छा ही है। हम लोगों में यदि सचमुच ही वैराग्य रहता, तो किसी तरह भी इतना कार्य नहीं बढ़ता। वास्तव में वैराग्य नहीं है। इसीलिये क्षयमुखी कर्म अच्छा ही हो रहा है।

सेवक – ये सब कार्य करने के लिये यदि कोई ठाकुरजी के भाव के साथ कुछ Compromise समझौता करके कार्य करता है, तो उससे उसकी क्या गति होगी?

महाराज – व्यक्तिगत कर्मफल भुगतना ही पड़ेगा।

७-१-१९६०

सेवक – क्या बलपूर्वक किसी का उपकार किया जा सकता है ?

महाराज – तो सुनो, वह जो लड़का काम करता है, मैंने निश्चय किया कि उसे अच्छा बनाऊँगा। बोल-बोल कर टेस्ट परीक्षा तक दिलवाया। किन्तु वह अपना मन ही इधर नहीं लगाता। अब वह मुझे देखते ही कन्नी काटकर इधर-उधर चला जाता है। जो लड़का सब्जी काटता है और बर्तन धोता है, उसके लिये कोशिश किया। अब वह दो बार ठाकुरजी को प्रणाम करता है। उसे ठाकुरजी का चित्र लाकर दे दिया हूँ। लगता है वह विवाह नहीं करेगा। चन्दन की लकड़ी को भी छिलना पड़ता है। नहीं छिलने से वह सुन्दर नहीं होता है। मैं अपनी चौकी और बेंच के पाये को दिखाता हूँ। लकड़ी एक ही है, किन्तु उसका रूप दो प्रकार का है। सबके भीतर भगवान हैं, किन्तु सबका परिवर्तन नहीं किया जा सकता। यह देखो न, यह लड़का जो ठीक समझता है, वही करता है। केवल उसके गुणों को उसे दिखाया जा सकता है, उसी से वह अपनी उन्नति का मार्ग ढूँढ़ लेगा।

शाम को वेदान्त मठ के स्वामी शंकरानन्द जी महाराज आये हुए हैं। वे प्रेमेश महाराज के पूर्व परिचित हैं। सिलेट (बांगला देश) में रहते समय उनके पास बीच-बीच में जाते थे। उन्होंने इतिहास में अनेकों अनुसंधान किया है और वे स्वामी अभेदानन्द जी महाराज से दीक्षा लेकर वेदान्त मठ में सम्मिलित हुये।

स्वामी शंकरानन्द – अभेदानन्द जी महाराज के सम्बन्ध में शरत महाराज (स्वामी सारदानन्द जी) ने जिस प्रकार स्वामीजी के द्वारा शक्ति संचार का वर्णन किया है, यदि उस सम्बन्ध में आप कुछ कहें।

प्रेमेश महाराज – अभेदानन्द जी महाराज ने जिन लोगों को दीक्षा दिया है, उन लोगों की मुक्ति निश्चित है। अमेरिका में उन्हें Apostolic Mood – गुरुभाव में बहुत दिनों तक रहना पड़ा था। २५ वर्षों तक बहिर्मुखी लोगों के साथ बहुत रहने के कारण उनके शरीर में प्रतिक्रिया हुई थी, जैसे ठाकुर, माँ एवं स्वामीजी के देह में हुयी थी। स्वामीजी ने कहीं कहा है कि प्रतिक्रिया स्थूल शरीर का अतिक्रमण कर सूक्ष्म शरीर को भी प्रभावित कर सकती है।

१२-१-१९६०

महाराज – सर्वत्र नेता का अभाव है। सम्पूर्ण भारतवर्ष में नेता नहीं हैं। हमारे देश के नेता दूसरे लोगों को नौकर समझते हैं। सबको देखकर, सबके साथ परामर्श कर, विचार-विमर्श करके कार्य करने की क्षमता, मानो वह उनलोगों की कुण्डली में नहीं है। केवल पीछे निन्दा करेंगे। स्वामीजी ने बार-बार व्यावहारिक ज्ञान (Practical Wisdom) पर बल दिया है। कर्म करने से उत्पन्न अनुभव के नहीं होने पर यह ज्ञान (Wisdom) नहीं होता है। मुर्शिदाबाद में आकर मेरी आँखें खुल गयीं। सब केवल हिलना-डुलना नहीं, घर में बैठे

रहने के लायक हैं ! इसलिये अधिकांश लोग ही अपरिपक्व – 'न घर के न घाट के' हो जाते हैं। माँ क्या ऐसे ही बोली हैं कि – 'बेटा, कर्म लक्ष्मी है।' मनुष्य कर्म करने से सक्रिय होता है, मानसिक उद्विग्नता, चंचलता कम हो जाती है। बड़े-बड़े जमींदार लोग बैठे-बैठे खाते हैं और अकर्मण्य हो जाते हैं। संसार में अनभिज्ञ और अकुशल हो जाते हैं। किसी एक विशिष्ट व्यक्ति के घर में नौकर बाजार करता था। जो मन में आता था, वही खरीदकर लाता था और उसे ही उनलोगों को खाना पड़ता था। मेरे साथ रहने से अभी वे खुद अपने कंधे में थैला रख कर लाते हैं। जब वे अपने लड़के को स्कूल भेजते थे, तो नौकर पुस्तक लेकर पीछे-पीछे जाता था। लड़के को खिला-खिला कर ऐसा बना दिया था कि वह अस्वस्थ हो गया और उसे छह महीना केवल बार्लि खाकर रहना पड़ा था। वह केवल डालडा खाता था, वह जानता नहीं था कि डालडा स्वास्थ के लिये हानिकारक है।

देखो, तुम लोगों को एक महत्वपूर्ण बात कहता हूँ। यदि रामकृष्ण मिशन में संन्यासी होना चाहते हो, तो ३ बजे या साढ़े ३ बजे उठने का अभ्यास करो। हम लोगों को तो सहज में 'मैं' नहीं जाता है। घूम-फिर कर कहीं-न-कहीं से मैं यह उत्तीर्ण हूँ, अमुक घर का लड़का हूँ' आ जाता है। यह सब भूलने के लिये आत्म-विकास करने की आवश्यकता है। केवल शिक्षा से acadamic होने से कि पढ़ रहा है, तो पढ़ ही रहा है, क्या इससे उन्नति होती है?

सेवक – महाराज! क्या हमलोगों को ध्यानयोग का अभ्यास करना चाहिये?

महाराज – केवल राजयोग का अभ्यास करने से प्राण के ऊपर अनन्त नियन्त्रण आता है। इससे वह एक ही साथ पाँच अलग-अलग शरीर धारण कर सकता है। इसका उद्देश्य शरीर के बाहर जाना नहीं है। देह में रहकर भोग करना है। मुमुक्षु तो देह के पार जायेगा, उसे चारों कोशों को ही छोड़ना पड़ेगा। हमलोगों के लिये अधिक तितिक्षा austerity करना ठीक नहीं हैं। इसलिये मध्यमार्ग है। जहाँ पर मैं आश्रम आरम्भ किया था, वहाँ कभी सात हाथ का कपड़ा पहनता था। उसके बाद अच्छे घर के लड़कों के आने के बाद चौकी की व्यवस्था हुई। बाँस के बदले लकड़ी का मकान बना। वहाँ पर महिलाओं का प्रवेश निषेध था। किन्तु बाहर से लोग आने से मैं एक कमरे में बैठकर उनलोगों के साथ वार्तालाप करता था। ब्रह्मचारी लोग मिल नहीं पाते थे। हमारे मिशन में जो इतना उन्मुक्त सामुहिक वातावरण है, उसकी यह अच्छाई है। पुराने मठों में जो सब अपराध होते थे, सुनने से कानों में ऊंगली डालकर भाग जाओगे। यहाँ पर सबके सामने रहते हैं, इसलिये सबको संयमित, अनुशासित रहना पड़ता है।

स्वामी विवेकानन्द जी के साथ लोकमान्य तिलक जी का वार्तालाप हुआ था। तिलक जी ने भी कहा था कि पहले कर्म नहीं करने से कुछ भी ठीक नहीं होता है। अभी दूसरे सम्प्रदाय के संन्यासियों ने भी कर्म को स्वीकार कर लिया है।

बुद्धिहीन मूर्खों को प्रेरित करने से विशेष कुछ नहीं होता है। अब मैं सबको अनुप्राणित नहीं करता हूँ। किसी-किसी को साधु होने के लिये निरुत्साहित करता हूँ। क्योंकि देखता हूँ कि उसमें साधु-भाव थोड़ा-सा भी नहीं है।

सेवक – अन्यान्य अवतारों की तुलना में ठाकुरजी की अधिक विशेषता क्या है?

महाराज – ठाकुरजी में जो विशेषता देखी गयी है, वैसी किसी में नहीं देखी गयी। स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज सगुण और स्वामीजी निर्गुण ब्रह्म तक जाते थे और ठाकुर स्वयं निर्गुण ब्रह्म हैं। जो उनके पास गया, जिसने देखा, वही मुग्ध हो गया। अभी बात कर रहे हैं, बात करते-करते कहाँ जो चले गये, फिर आये, फिर चले गये। इतनी अभिव्यक्ति किसी अन्य अवतार में नहीं देखी गयी। भगवान श्रीकृष्ण के भी योग की बातें एक-दो जगह पर हैं, किन्तु इतना प्रकट नहीं है। उन लोगों के साथ जो लोग थे, वे लोग इसे समझ नहीं सके। हो सकता है कि इतनी अभिव्यक्ति करने की आवश्यकता नहीं थी।

पूर्व के अवतारों में किसी में भक्ति, किसी में कर्म, किसी में दया और किसी में ज्ञान था। किन्तु ठाकुर जी में सब कुछ समान रूप से महत्वपूर्ण था। श्रीकृष्ण में कर्म, बुद्ध में दया, चैतन्य में भक्ति और शंकराचार्य में ज्ञान था। पर ठाकुरजी में सब कुछ है। उनमें कर्म की कितनी प्रबलता है ! वे घर-घर में घूम रहे हैं, चिल्लाकर कह रहे हैं – कौन कहाँ है, आ जाओ। इसके अतिरिक्त इसके पहले ऐसा प्रेस नहीं था कि सब कुछ का रेकार्ड रखा जायेगा। व्यासदेव की कृपा से तो भगवान कृष्ण को जाना जाता है और अन्य सबकी बातें बहुत बाद में लिखी गयी हैं। ठाकुर जी का जैसा चित्र देखा जाता है, वैसा और किसी अवतार में नहीं देखा जाता। इस बार समाज की आवश्यकता के लिये अवतार को इतना अधिक अभिव्यक्त करना पड़ा। इसीलिये तो वे अवतारवरिष्ठ हैं।

सेवक – श्री चैतन्य और ठाकुर जी में कर्म कहाँ है?

महाराज – श्री चैतन्यदेव ने सम्पूर्ण भारत का परिभ्रमण किया। इसके सिवाय उनके जीवन में जो भक्ति की बाढ़ आयी थी, उससे सम्पूर्ण भारत व्याप्त है। उनकी महासमाधि के बाद कितने महापुरुषों की बातें सुनी गयीं ! ठाकुरजी के आते ही पुनः ब्राह्मणत्व जाग उठा है। कितने विश्वविद्यालय और विद्यालय स्थापित हो रहे हैं। सबकी उन्नति का सुअवसर आया है।

❖ (क्रमशः) ❖

स्वामी विवेकानन्द की कथाएँ और दृष्टान्त

(स्वामीजी अपने व्याख्यानों में दृष्टान्त आदि के रूप में बहुत-सी कथा-कहानियों तथा दृष्टान्तों का वर्णन किया है, जो १० खण्डों में प्रकाशित 'विवेकानन्द साहित्य' तथा अन्य ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं। उन्हीं का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

५. प्रलय की कहानी

सभी शास्त्रों और पुराणों में एक बात कही गयी है कि मनुष्य जैसा पहले था, अब वह उससे गिरी हुई दशा में है ! यहूदियों के धर्मग्रन्थ में आदम के पतन की जो कथा है, उसका भी वस्तुत: यही मर्म है। हिन्दू शास्त्रों में इस बात का बारम्बार उल्लेख हुआ है। हिन्दुओं ने जिसका सतयुग के रूप में वर्णन किया है, उस युग में मनुष्य की मृत्यु उसकी इच्छानुसार होती थी, तब मनुष्य जब तक चाहता तब तक जीवित रह सकता था और उसका मन शुद्ध और सबल था। उन दिनों किसी भी प्रकार की बुराई या दुख नहीं थे और वर्तमान युग उसी उन्नत अवस्था का भ्रष्ट रूप मात्र है।

इसके साथ ही हमें सभी धर्मों में जल-प्लावन या प्रलय का वर्णन भी मिलता है। यह कथा ही इस बात को प्रमाणित करती है कि सभी धर्म वर्तमान युग को प्राचीन युग की भ्रष्ट अवस्था मानते हैं। जगत् की भ्रष्टता क्रमश: बढ़ती गयी और प्रलय के फलस्वरूप मानव-जाति का बहुत-सा भाग नष्ट हो गया। उसके बाद फिर उन्नति का क्रम शुरू हुआ और जगत् अब धीरे-धीरे अपनी पवित्रता की उसी पुरानी अवस्था की ओर लौट रहा है। तुम बाइबिल के पुराने नियमों में वर्णित प्रलय की कथा जानते हो। ठीक इसी तरह की कथा प्राचीन बेबिलोन, मिस्र, चीन और हिन्दुओं में भी प्रचलित थी।

हिन्दू शास्त्रों में प्रलय का वर्णन इस प्रकार है : महर्षि मनु एक दिन गंगातट पर संध्या-वन्दन में लगे थे, तभी एक छोटी-सी मछली ने आकर उनसे रक्षा करने का अनुरोध किया। मनु ने तत्काल उसे अपने सामने रखे हुए पात्र में डालने के बाद उससे पूछा, "तुम क्या चाहती हो?"

मछली बोली, "एक बड़ी मछली मुझे खाने के लिए मेरे पीछे लगी है। आप मेरी रक्षा कीजिए।" मनु उसे घर ले गये। उन्होंने सुबह देखा, तो वह बढ़कर पात्र के बराबर हो गयी है। मछली बोली, "अब मैं इस पात्र में नहीं रह सकती।" मनु ने उसे एक कुण्ड में रख दिया। अगले दिन वह कुण्ड के बराबर हो गयी और कहने लगी, "मैं इसमें भी नहीं रह सकती।" मनु ने उसे नदी में डाल दिया। उन्होंने सबेरे देखा तो उसका शरीर पूरी नदी में फैल गया था।

तब मनु ने उसे समुद्र में डाल दिया। मछली बोली, "मनु, मैं ब्रह्माण्ड की स्रष्टा हूँ। मैं प्रलय द्वारा जगत् का ध्वंस करूँगा। तुम्हें सावधान करने के लिए ही मैं मछली का रूप धारण करके आया था। तुम एक बहुत बड़ी नौका बनाओ। उसमें हर प्रकार के प्राणियों का एक-एक जोड़ा रख लो। तुम्हारा परिवार भी उसी में आ जाय। जब सारी पृथ्वी जल में डूब जायगी, तब मेरा एक सिंग (काँटा) पानी के बाहर निकल आयेगा। तुम नौका को उसी से बाँध देना। उसके बाद पानी घट जाने पर तुम लोग नौका से उतरकर धरती पर फिर से प्रजावृद्धि करना।"

इस प्रकार प्रलय हुआ और मनु ने अपने परिवार सहित हर प्राणी का एक-एक जोड़े और हर पौधे के एक-एक बीज बचा लिया। प्रलय समाप्त हो जाने के बाद वे इस नौका से उतरकर प्राणियों को उत्पन्न करने लगे। हम लोग मनु के वंशज होने के कारण 'मानव' कहलाने लगे। (२/५-६)

६. मानवीय समझदारी की सीमा

मनुष्य कहलाने वाले सभी लोग अब भी यथार्थ मनुष्य नहीं हैं। हर व्यक्ति को अपने मन से इस संसार को समझना पड़ता है। उच्चतर बोध अत्यन्त कठिन है। अधिकांश लोगों को निराकार की तुलना में साकार वस्तु अधिक जँचती है !

इसके उदाहरण के रूप में एक दृष्टान्त लेते हैं। एक हिन्दू और एक जैन मुम्बई के किसी धनी व्यापारी के मकान में बैठे शतरंज खेल रहे थे। मकान समुद्र के निकट और खेल लम्बा था। वे लोग जिस छज्जे पर बैठे थे, उसके नीचे समुद्र के जल में आनेवाले ज्वार-भाटे ने खिलाड़ियों का ध्यान आकृष्ट किया। एक ने उसे एक पौराणिक कथा के द्वारा समझाया कि देवता लोग एक खेल खेलते हैं, जिसमें वे एक बड़े गड्ढे में पानी डालते हैं और फिर उसे वापस बाहर फेंकते हैं। दूसरा बोला, "नहीं, देवता लोग पानी को अपने उपयोग के लिए खींचकर एक ऊँचे पहाड़ पर ले जाते हैं और अपना काम हो जाने के बाद उसे फिर नीचे फेंक देते हैं।" वहाँ उपस्थित एक युवा छात्र उनकी बातें सुनकर हँसने लगा और बोला, "क्या आप नहीं जानते कि चन्द्रमा का आकर्षण ज्वार-भाटा उत्पन्न करता है?" तब दोनों खिलाड़ी युवक पर चिढ़ गये और पूछा कि क्या वह उन लोगों को मूर्ख समझता है? क्या वह मानता है कि चन्द्रमा के पास कोई रस्सी है, जिससे वह ज्वार को खींचता है, या फिर वह इतनी दूर तक पहुँच भी सकता है? उन लोगों ने ऐसी किसी भी मूर्खतापूर्ण व्याख्या को मानने से मना कर दिया।

तभी उनका मेजबान उस कमरे में आया। दोनों पक्षों द्वारा उससे निर्णय कर देने की प्रार्थना की। वह एक शिक्षित

व्यक्ति था और सत्य को जानता था, परन्तु वह स्पष्ट रूप से समझ गया कि शतरंज के इन खिलाड़ियों को समझा पाना असम्भव है, उसने उस विद्यार्थी को चुप रहने का इशारा किया और उसके बाद उसने ज्वार-भाटे की एक ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की, जो उसके अज्ञानी श्रोताओं को पूर्णतया सन्तोषजनक प्रतीत हुई। वह बोला, "देखो, यहाँ से बहुत दूर समुद्र के बीच में एक विशाल स्पंज का पहाड़ है। आप दोनों ने स्पंज देखा होगा और मेरा आशय समझ रहे होंगे। स्पंज का यह पहाड़ बहुत-सा जल सोख लेता है और तब समुद्र का पानी उतर जाता है। इसके बाद धीरे-धीरे देवता लोग उस स्पंज के पहाड़ पर उतरते हैं और उस पर नृत्य करने लगते हैं। उनके भार से पहाड़ का सारा जल निचुड़ जाता है और समुद्र में ज्वार आ जाता है। सज्जनो ! ज्वार-भाटे का यही कारण है और आप लोग स्वयं सहज ही समझ सकते हैं कि यह व्याख्या कितनी युक्तिपूर्ण और सरल है।"

ज्वार-भाटा उत्पन्न करने में चन्द्रमा की शक्ति का उपहास करनेवाले उन दोनों व्यक्तियों को स्पंज के पहाड़ और उस पर नृत्य करनेवाले देवताओं के सिद्धान्त में कुछ भी अविश्वसनीय नहीं लगा ! उनके लिए देवता सत्य थे और उन्होंने स्पंज को सचमुच ही देखा था। तो फिर उन दोनों का समुद्र पर संयुक्त प्रभाव होना कही अधिक सम्भव था ! (६/२६२-६३)

७. पहले ईश्वर का जानो, फिर बाकी सब कुछ

अनन्त आध्यात्मिक जगत् का जो भाग ऐन्द्रिक चेतना के धरातल पर प्रक्षेपित है, यह इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य जगत् उसी का एक नन्हा-सा अंश है। ऐसी स्थिति में उस इन्द्रियातीत विस्तार को समझे बिना यह नन्हा-सा प्रक्षेपित अंश भला कैसे समझा जा सकता है? कहते हैं कि सुकरात एक दिन जब एथेंस में भाषण दे रहे थे, तो वहीं उनकी एक ब्राह्मण से मुलाकात हुई। वह ब्राह्मण यूनान की यात्रा करने आया हुआ था। सुकरात ने उससे कहा कि मनुष्य के अध्ययन का सबसे महत्वपूर्ण विषय स्वयं 'मनुष्य' ही है।

इस पर ब्राह्मण ने तीक्ष्ण स्वर में उत्तर दिया, "ईश्वर को जाने बिना आप मनुष्य को भला कैसे जान सकते हैं?" यह ईश्वर, यह शाश्वत अज्ञेय सत्ता, यह ब्रह्म, यह अनन्त या अनामी अथवा आप उसे चाहे जिस भी नाम से पुकारें – वही ज्ञात और ज्ञेय जगत् का, वर्तमान जीवन का मूलभूत तत्त्व है, उसकी व्याख्या की कुंजी है। (४/१८८)

८. अन्धविश्वासों की शक्ति और सामर्थ्य

उपासना हर मनुष्य के स्वभाव में निहित है; केवल उच्चतम दर्शनशास्त्र ही विशुद्ध निराकार की धारण तक पहुँच सकता है। इसलिए अपने ईश्वर की पूजा करने के लिए मनुष्य उसे सदैव एक व्यक्ति का रूप देता रहेगा। जब तक चाहे किसी भी प्रतीक की पूजा, उसके पीछे स्थित ईश्वर के प्रतीक रूप में होती है, स्वयं प्रतीक और केवल प्रतीक के लिए ही नहीं, तब तक वह बहुत अच्छी चीज है। सर्वोपरि, कोई बात ग्रन्थों में है, केवल इसीलिये उस पर विश्वास करने के अन्धविश्वास से मुक्त होने की जरूरत है। जो कुछ किसी ग्रन्थ में लिखा हो – विज्ञान, धर्म, दर्शन तथा सब कुछ को उसी के समरूप बनाना एक भयानक अत्याचार है। ग्रन्थपूजा मूर्तिपूजा का निकृष्टतम रूप है।

एक बारहसिंगा था – गर्बीला और स्वतंत्र। एक राजा के समान उसने अपने बच्चे से कहा, "मेरी ओर देखो, मेरे शक्तिशाली सींगों को देखो। मैं एक प्रहार से आदमी को भी मार सकता हूँ। बारहसिंगा होना कितना अच्छा है !" ठीक तभी दूरी पर शिकारी के बिगुल की ध्वनि सुनायी पड़ी और बारहसिंगा तेजी से भाग निकला। उसका बच्चा भी चकित होकर पीछे-पीछे भागा। सुरक्षित स्थान पर पहुँचकर बच्चे ने पूछा, "हे पिता, जब तुम इतने बलवान और वीर हो, तो मनुष्य से क्यों भागते हो?" बारहसिंगे ने उत्तर दिया, "बेटा, मैं जानता हूँ कि मैं बलवान और शक्तिशाली हूँ, पर जब वह आवाज सुनता हूँ, तो न जाने मुझे क्या हो जाता है कि न चाहते हुए भी मैं भागने लगता हूँ।" ऐसा ही हमारे साथ भी होता है। हम ग्रन्थों में वर्णित नियमों के 'बिगुल की ध्वनि' सुनते हैं, पर आदतें और पुराने अन्धविश्वास हमें जकड़े रहते हैं; कुछ समझने के पूर्व ही हम दृढ़ता से बँधकर 'मुक्तिरूप' अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाते हैं। (६/२८१-८२)

९. पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ

अनेक वर्षों पूर्व मैंने अपने ही देश के एक बहुत बड़े महात्मा के दर्शन किये। हम लोगों ने वेद, कुरान, बाइबिल आदि कई धर्म-ग्रन्थों पर चर्चा की। बातें पूरी हो जाने के बाद महात्मा ने मुझसे मेज पर से एक किताब उठा लाने को कहा। उस किताब में अन्य बातों के अलावा यह भी लिखा था कि उस साल कितनी वर्षा होने वाली है।

महात्मा बोले – "इसे पढ़ो।" मैंने पढ़ा कि कितनी वर्षा होने वाली है। उन्होंने कहा, "ग्रन्थ को उठाकर इसे निचोड़ो।" मेरे वैसा ही करने पर वे बोले, "वत्स, इसमें से तो एक बूँद भी पानी नहीं निकलता। जब तक पानी नहीं निकलता, तब तक यह कोरी किताब मात्र ही है। इसी प्रकार जब तक तुम्हारा धर्म तुम्हें ईश्वर-प्राप्ति नहीं करा देता, तब तक वह निरर्थक है। जो व्यक्ति धर्मलाभ के लिए केवल ग्रन्थ पढ़ता है, वह मुझे बोधकथा के उस गधे की याद दिलाता है, जो पीठ पर चीनी का भारी बोझ ढोते हुए भी उसकी मिठास को नहीं जानता था। (२/२३५-३६)

❖ (क्रमशः) ❖

स्मृतियों का गुलदस्ता

ब्रह्मचारी अक्षयचैतन्य

(श्रीरामकृष्ण अपने भक्तों के बारे में कहते, 'यह मेरा भाँति-भाँति के फूलों का गुलदस्ता है'। सबको लेकर ही उनके 'प्रेम के बाजार में आनन्दमेला' लगा था। संकलक ने माँ की जीवनी लिखने हेतु उनके बहुत-से शिष्यों-भक्तों से उनके बारे में अनेक बातें एकत्र की थीं। जीवनी प्रकाशित होने के बाद भी माँ की कुछ उक्तियाँ या विशेष परिस्थितियों में उनके व्यवहार के विवरण – उनके पास बच गये थे। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' के तीसरे भाग से उन्हीं का श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है – सं.)

२४. भूषणचन्द्र पूइल्या

मामा शिवदास दलुई और उनके चाचा यतीन्द्र नाथ दलुई के साथ मैं जयरामबाटी गया। कोआलपाड़ा मठ में भोजन करके शाम को माँ के घर पहुँचा। मैंने तत्काल घर में जाकर उनसे दीक्षा के लिये प्रार्थना की। माँ के राजी न होने पर मैंने आवेगपूर्वक कहा, "तुम्हारे एक बागदी (आदिवासी) पिता थे, बागदी पुत्र क्यों नहीं होगा?" माँ ने जब प्रसाद पाने को कहा, तो मैं बोला, "यदि मंत्र नहीं दो, तो हम नहीं खायेंगे।" मैं रात भर उपवासी रहा, माँ ने भी नहीं खाया। सुबह प्रसन्न-मामा आकर बोले, "दीदी ने कहा है, 'मेरे बच्चों को नहाकर आने को कहो, मैं मंत्र दूँगी।"

२५. महिमचन्द्र दत्त

समरेन्द्र मुखर्जी मेदिनीपुर के सिविल कोर्ट में नौकरी करते थे; बाद में कलकत्ते जाकर शिक्षक हो गये। एक दिन वे आवेगपूर्वक बोले, "माँ, मेरा कैसा सौभाग्य कि आपके इतनी जल्दी-जल्दी श्रीचरणों का दर्शन पा रहा हूँ।" माँ ने कहा, "इसी सौभाग्य के लिये ही तो तुम्हें वहाँ से नौकरी छुड़ाकर कलकत्ते लायी हूँ।" समरेन्द्र बाबू बोले, "माँ, आपकी बड़ी कृपा है।" माँ ने कहा "मेरी कृपा के बिना किसकी सामर्थ्य है कि यहाँ आ सके।"

२६. यामिनी देवी

जगदम्बा आश्रम में एक दिन सुबह माँ ने मुझे जगाकर कहा, "तुम अभी नहाकर आओ, तुम्हें दीक्षा दूँगी।" मंत्र लेने बैठने के बाद, मेरे यह कहने पर कि मेरे पास कुछ नहीं है, माँ ने मेरे हाथ में एक हरीतकी देकर कहा, "और क्या दोगी बेटी, यह हरीतकी लो।" गुरुदक्षिणा के रूप में माँ के हाथों में हरीतकी देकर मैंने उन्हें प्रणाम किया।

माँ आखिरी बार कलकत्ता जाने के रास्ते में सुरेश्वर सेन के घर से विष्णुपुर स्टेशन आयीं। स्टेशन मास्टर ने हाथ जोड़कर रोते हुए कहा,, "माँ, दया करके एक बार मेरे घर चलकर अपनी चरणधूलि दीजिये।" माँ बोलीं, "इस बार नहीं, फिर कभी जब जाऊँगी तब होगा।"

२७. राधारानी चट्टोपाध्याय (राधू)

माँ जब देवी-देवताओं को प्रणाम करतीं, तो कहतीं, "माँ चित्तेश्वरी, मेरे चित्त को शीतल रखना।" शीतला-माँ से कहतीं, "शीतले रोगनाशिनी, शोकनाशिनी, द्रारिद्र्यनाशिनी, दुःखनाशिनी।" कहतीं, "माँ के समान कोई देह का पोषण करनेवाला नहीं, चिन्ता के समान कोई देह का शोषण करनेवाला नहीं। माँ के समान सन्तान की देखभाल अन्य कोई नहीं जानता।"

२८. सुवासिनी देवी

रात में सबका भोजन हो जाने के बाद पद्मा नदी के उस पार (पूर्वी बंगाल) से ६-७ स्त्री-पुरुष भक्त आ पहुँचे। मैं परोस रही थी, जानती थी कि हण्डी में भात अब नहीं है। माँ बोली, "हण्डी में भात है।" मैंने नलिनी के साथ जाकर देखा, हण्डी में जरा भी भात नहीं था। "मेरा मन कह रहा है कि भात है" – कहते हुए माँ स्वयं देखने गयीं और दो-तीन लोगों के लायक भात निकाल ले आयीं। सुबह के नाश्ते की कुछ रोटियाँ बची थीं, उन्हें और भात निकालकर सबके रात के खाने की व्यवस्था ही गयी।

२९. सुशीला बाला दत्त

कमरे में झाड़ू लगाते हुए मैं एक पद गुनगुना रही थी। सुनकर माँ बोली, "गीत बड़ा अच्छा है, भाव का गीत है। गाकर मुझे पूरा सुनाओ।" पर मैं पूरा नहीं जानती थी।

मृत्युशौच की अवस्था में मैं कुछ दिन माँ के पास थी। ठाकुरघर में आती जाती, माँ की चौकी के पास सोती। शाम को अनेक महिलाएँ माँ के पास बैठकर अपने सम्बन्धियों की इनफ्लूएंजा से ग्रस्त होकर मृत्यु के विषय में बातें कर रही थीं। मैं भी अपने चचिया ससुर की मृत्यु की बात कहने जा रही थी, तभी माँ ने आँखों से इशारा कर मना किया। सबके चले जाने पर बोली, "वह बात क्या जिस-तिस से कहनी चाहिये? सबका मन एक जैसा तो नहीं होता।"

३०. हरिनाथ वन्द्योपाध्याय

जब मैं दूसरी बार जयरामबाटी गया, उस समय एक दिन

दोपहर में विश्राम के बाद शाम को माँ के पुराने मकान पर गया। वे पैर लटकाये बैठी हुई थीं। उन्हें प्रणाम करके मैं उनके दोनों पैरों को अपने सिर पर रखकर बोला, "यह अनुभूति सर्वदा बनी रहे।" माँ बोली, "रहेगा।"

मैं उनके चरणों के पास बैठा था, परन्तु मन में क्रमश: दो विपरीत भावों का उदय हो रहा था। कभी लगता – ये एक साधारण स्त्री हैं। जब 'भगवती' बोध होता, तो उनके प्रति भक्ति-विश्वास बढ़ने लगता और जब 'मानवी' बोध होता, तो भक्ति-विश्वास चला जाता। मन बड़ा दुखी हो गया। सोचा – जब माँ के पास बैठे-बैठे ही यह अवस्था है, तो दूर जाने पर माँ को भूल भी सकता हूँ। भय लगा, बोला, "माँ, तुमसे एक बात कहूँगा; बोलो, नाराज तो नहीं होओगी?" वे बोलीं, "तेरी जो इच्छा हो कह, नाराज क्यों होऊँगी?" अपने मन की अवस्था खुलकर बताते ही माँ ने कहा, "मैं तो एक साधारण स्त्री हूँ; परन्तु उससे क्या? मातृज्ञान रहने से ही हुआ।" मैंने कहा, 'जब भक्ति-विश्वास नहीं रहा, तो फिर मातृज्ञान भी हमेशा बना रहेगा, यह कैसे कह सकता हूँ?" मैं माँ के दोनों चरण अपने सिर पर रखकर बोला, "तुम्हें यह कहना पड़ेगा – 'तेरे छोड़ देने पर भी मैं तुम्हें नहीं छोड़ूगी'।" माँ ने कहा, "ऐसा कहीं होता है? तुम पुकारते ही मुझे पाओगे।" मैंने कहा, "शायद तुम्हें पुकारूँ ही नहीं। तुम्हें कहना ही पड़ेगा।" इस बातचीत के बाद माँ ने कहा, "अच्छा बेटा, ऐसा ही होगा।" तो भी पूर्वोक्त बात हूबहू कहलवाने के लिये जिद करने पर माँ ने हँसते हुए कहा, "तेरे छोड़ देने पर भी मैं तुम्हें नहीं छोड़ूगी।"

– दो –

स्वामीजी कामारपुकुर और जयरामबाटी आये थे या नहीं – पूछने पर माँ ने कहा, "दो बार चेष्टा करने पर भी नरेन यहाँ नहीं आ सका। इसके लिये उसे बड़ा दु:ख था। ठाकुर ही जानें कि उसे उन्होंने यहाँ क्यों नहीं आने दिया!"

स्वामी हरिप्रेमानन्द जी कोआलपाड़ा से फूल और साग-सब्जी ले आये हैं। माँ ने पूछा, "बेटा, तुम केदार के पास हो, वह तुम्हें प्यार तो करता है न? यत्न तो करता है न?"

हरिप्रेम महाराज बोले, "हाँ माँ, बड़ा स्नेह करते हैं। फिर भी मैं अब और गायों की चरवाही नहीं कर सकता।"

माँ थोड़ा रुष्ट होकर बोली, "यहाँ जो लड़के आये हैं, क्या वे थोड़ा ध्यान-जप नहीं करेंगे? तुम मेरे यहाँ चले आओ।" दो-तीन दिन बाद वे नये घर में माँ के पास आये। माँ प्राय: कहतीं, "हरि, जरा पाँवों में थोड़ा वातनाशक तेल लगा दो तो!" महिलाओं से कहतीं, "मेरा हरि काम का लड़का है, उसे देखकर लगता है, मानो वह मेरी विधवा पुत्री हो।"

माँ के घर में रसोई की असुविधा देखकर काली मामा ने एक रसोइया रखने को कहा। माँ बोलीं, "मैं स्त्रियों के साथ रहती हूँ, यहाँ भला लड़के को कैसे रखा जा सकता है? तो भी ये (सेवक) लोग जो रहते हैं, ये लोग मेरी पुत्रियाँ हैं।"

प्रबोधबाबू (चट्टोपाध्याय) द्वारा किसी भक्त की दुश्चरित्रता की बात उठाने पर माँ बोलीं, "तुम लोग कुछ अच्छा तो देख नहीं सकते, आकर केवल दोष ही बोलोगे। उससे क्या हुआ? **मेरे बच्चे में एक क्या पचीस दोष भी हों, तो कुछ नहीं होगा – ब्रह्मा-विष्णु आ जायँ, तो भी कुछ नहीं कर सकते।**"

माँ अपना बिस्तर किसी को उपयोग में नहीं लाने देती थीं। दूसरे को देने पर, फिर स्वयं उसका उपयोग नहीं करती थीं। आखिरी दिनों में इस नियम का उल्लंघन हुआ।

सूरमा राय से माँ ने कहा था, "ठाकुर की पूजा में दुर्वा देना। बीच का खोल फेंककर तीन दल रखना। शिवपूजा दुर्वा के बिना नहीं होती।"

सातू के पूछने पर कि दीक्षा लेने के बाद वह आगे पढ़ेगा या नहीं, माँ ने कहा, "पढ़ेगा क्यों नहीं? ठाकुर की सन्तानों में बड़े-बड़े विद्वान् हैं, मूर्खों से कोई काम नहीं होता।"

जब माँ जयरामबाटी में नहीं रहतीं, तो वहाँ जाने की इच्छा नहीं होती। एक बार जब माँ कलकत्ते से गाँव लौटीं, तो मैं दर्शन करने गया। माँ बोलीं, 'अरे नलिन, यह सेविका क्या कहती है, सुन!" सेविका बोली, "माँ के कमरे में धान रखकर मैं दरवाजे पर सोयी थी। काफी रात गये देखा – माँ पटसन के कपड़े पहने, दाहिने हाथ में गंगाजल का कमण्डल और बाँयें हाथ में फूलों की डाली लिये आकर मुझे डाँटते हुए कह रही हैं – दरवाजे से हट, मैं भीतर जाकर ठाकुर पूजा करूँगी। मैंने जल्दी से अपना बिस्तरा समेट लिया। माँ ने भीतर जाकर पूजा की और फिर बाहर चली गयीं। माँ बोली, "सुना! मैं क्या जयरामबाटी के बाहर रहती हूँ?"

गयला-बहू धान कूटते हुए बोली, "कितने लोग चौबीस पहर (तीन दिन) हरिनाम (संकीर्तन) करते हैं। तुम्हारे इतने बच्चे हैं, तुम चौबीस पहर क्यों नहीं करतीं?" माँ बोलीं, "गयला-बहू, इसके बाद कितने ही चौबीस पहर देखोगी।"

पत्नी के देहान्त के बाद केदारनाथ दत्त के यह पूछने पर कि वे फिर से शादी करें या नहीं, माँ ने कहा, "हाँ जी, विवाह क्यों नहीं करोगे? भक्तों (भले लोगों) की वंशवृद्धि (संख्या में वृद्धि) होने से ही तो जगत् का मंगल होगा।"

"पत्नी से कैसा व्यवहार करूँगा?" उमेश चन्द्र दत्त के पूछने पर माँ ने कहा था, "सोचना कि जगदम्बा ही तुम्हारी सेवा करने के लिये तुम्हारी पत्नी के रूप में आयी हैं।"

माँ कहती, "जिसका नहीं होता धन-जन से, उसका मुहूर्त के गुण से होता है।"

❖ (क्रमश:) ❖

स्वामी विवेकानन्द की हिमालय-यात्रा (३)

स्वामी विदेहात्मानन्द

भागलपुर से देवघर की यात्रा

अखण्डानन्दजी कहते हैं कि वे दोनों भागलपुर के बाद लुपलाइन द्वारा लखीसराय और वहाँ से देवघर गये। "इसके पूर्व मेरा वैद्यनाथ-दर्शन नहीं हुआ था। बाबा का दर्शन करने के लिए मैंने स्वामीजी से बड़ा अनुनय-विनय किया और हठपूर्वक उन्हें वैद्यनाथ ले गया।"[१] भागलपुर से देवघर की दूरी १२६ कि.मी. है। वहाँ पहुँचकर उन्होंने भगवान शिव का दर्शन-पूजन आदि किया और उसके बाद बंगाल के प्रसिद्ध राष्ट्रवादी नेता श्री राजनारायण बोस से मिलने गये।

राष्ट्रवादी राजनारायण बोस (१८२६)

सुप्रसिद्ध राष्ट्रवादी नेता और समाज-सुधारक तथा ब्राह्मसमाज के नेता राजनारायण बोस उन दिनों देवघर में ही 'पुराना दह' अंचल में निवास कर रहे थे। अपनी युवावस्था में वे पाश्चात्य संस्कृति से इसने प्रभावित थे कि भारत की प्रत्येक रीति-रिवाज तथा परम्परा से घृणा करने लगे थे। परन्तु अपने माता-पिता की मृत्यु के उपरान्त उनके विचारों में आमूल-चूल परिवर्तन आया और वे पुन: धर्म में विश्वासी हो गये। इसके बाद वे महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर के सम्पर्क में आये और ब्राह्मसमाज के एक सक्रिय प्रचारक बन गये। कुछ काल बाद वे बंगाल के शिक्षित लोगों में एक राष्ट्रीय आन्दोलन चलाने लगे। उनका विचार था कि भारतवासियों को अपनी मातृभाषा का उपयोग करना चाहिये, परम्परागत वेशभूषा धारण करना चाहिये और स्वदेशी खानपान के नियमों का पालन करना चाहिये। अपनी संस्था में उन्होंने अँग्रेजी भाषा, वेशभूषा तथा भोजन का उपयोग पूर्णत: प्रतिबन्धित कर दिया था।[२]

स्वामीजी स्वदेशी भाषा के विषय में उनकी कट्टरता से परिचित थे, अत: उन्होंने अखण्डानन्दजी को पहले ही बता दिया था कि वे अपनी अंग्रेजी भाषा का ज्ञान उनके समक्ष जरा भी प्रकट न होने दें और ऐसा दिखायें मानो वे कोई सामान्य घुमक्कड़ साधु हों। स्वामीजी उनके साथ बातचीत के समय प्रांजल बँगला भाषा का उपयोग कर रहे थे। बातचीत के दौरान कोई ऐसा प्रसंग आ गया, जब अँग्रेजी का 'प्लस' शब्द का प्रयोग आवश्यक हो गया, परन्तु स्वामीजी ने अपनी एक उंगली को दूसरी पर चढ़ाकर जोड़ का चिह्न बनाया और इस संकट का समाधान किया। पुरानी बँगला जीवनी के अनुसार बातचीत के समय राजनारायण बाबू के मुख से एक बार अंग्रेजी का 'प्लस' शब्द निकल गया, परन्तु इन लोगों को अंग्रेजी से अपरिचित सोचकर उन्होंने अपने हाथों से धन (+) का चिह्न बनाकर दिखाया था। उनके इस व्यवहार पर दोनों गुरुभाइयों ने बड़ी कठिनाई से अपनी हँसी रोकी।[३]

इस प्रसंग में महेन्द्रनाथ दत्त ने लिखा है, "बोस महाशय के साथ नरेन्द्रनाथ की पुरानी तथा आधुनिक काल की घटनाओं, ब्राह्मसमाज आदि विषयों पर कई तरह की चर्चा होने लगी। बातचीत के दौरान नरेन्द्रनाथ ने पूछा, 'आपका स्वास्थ्य इतना बिगड़ कैसे गया?' बसु महाशय ने सरल तथा निष्कपट भाव से बताया, 'मद्य, मद्य, मद्य। नया-नया अंग्रेजी भाव देश में प्रविष्ट होने पर, उसके साथ-साथ यह धारणा भी प्रविष्ट हुई कि मद्यपान किये बिना न पढ़ाई-लिखाई होगी और न ही देश का काम हो सकेगा, इसीलिये हम लोगों ने मद्यपान शुरू किया।... इसी से स्वास्थ्य चौपट हो गया।' "[४] उनकी बात सुनकर स्वामीजी ने समझा कि अंग्रेजों द्वारा भारत के शिक्षितों के बीच प्रचारित की गयी मद्यपान की प्रथा देश तथा समाज के लिये परम घातक है।

कुछ वर्षों बाद जब स्वामीजी का नाम सारे विश्व में प्रसिद्ध हो गया, तभी राजनारायण बाबू को समझ में आया कि ये ही संन्यासी तो कई साल पूर्व उनसे मिलने आए थे; और तब उस भेंट की घटना उनके स्मृति-पटल पर उभर आयी। वे विस्मयपूर्वक बोल उठे, "मैंने तो सोचा था कि वे अँग्रेजी जानते ही नहीं!"

एक मत के अनुसार १८९८ ई. में जब स्वामीजी देवघर गये, उस समय वे एक बार फिर वृद्ध राजनारायण बाबू से मिलने गये थे। उन्होंने स्वामीजी से दोपहर को वहीं भोजन करने का अनुरोध किया और उस दिन स्वामीजी ने स्वयं ही भोजन पकाया था।[५]

वैद्यनाथ धाम में राजनारायण बाबू के यहाँ ही रात बिताने के बाद अगले दिन दोनों ने वाराणसी की ओर यात्रा की।

बिहार की एक रोचक घटना

श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त ने स्वामीजी विषयक अपने संस्मरणों

१. स्वामी अखण्डानन्दके जेरूप देखियाछि (बँगला), पृ. ९; प्रेमानन्द (बँगला), स्वामी ओंकारेश्वरानन्द, देवघर, सं. १३४६, भाग २, पृ. ३

२. The Life of Swami Vivekananda by His Eastern and Western Disciples, 1989, Vol. I, p. 247-48; also A Comprehensive Biography of SV, by S.N. Dhar, 3rd ed. 2005, Vol. 1, pp. 374-379

३. वही (The Life of Swami Vivekananda), p. 248

४. श्रीमत् विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली (बँगला), पहला भाग, सं. २००७, पृ. १४३

५. श्रीरामकृष्ण-परिक्रमा (बँगला), कालीजीवन देवशर्मा, खण्ड १, पृ. ३७४; श्रीअरविन्द ओ बांगलाय स्वदेशी युग, पृ. १९५

में उनसे सुनी हुई उनके बिहार-भ्रमण के दौरान हुई एक घटना का वर्णन किया है। इसके स्थान-काल का निर्धारण कर पाना कठिन है, तथापि घटना इस प्रकार है –

"वे जब बिहार में थे, उस समय वहाँ बड़ी सनसनी फैली हुई थी। इसका कारण यह था कि उस अंचल में सिन्दूर तथा अनाज के दानों से सने हुए कीचड़ के पिण्ड आम के वृक्षों पर चिपके हुए दीख पड़े थे। बिहार के अनेक जिलों में असंख्य आम के पेड़ इसी प्रकार चिह्नित मिले थे। इस देश की सरकार सिद्धान्तत: अपने आपको एक साम्राज्य की संरक्षक मानती थी। उनकी अद्भुत खुफिया पुलिस तुरन्त हरकत में आ गयी और बुद्धिमत्ता के साथ यह निष्कर्ष निकाल लिया गया कि आम्रवृक्षों पर इन चिह्नों का गदर के किंचित् पूर्व प्रसारित किये जानेवाली उन रहस्यमय चपातियों से कुछ विचित्र-सा मेल दिखता है। सशस्त्र तथा उतने ही भयंकर अशस्त्र अधिकारियों को सहसा अपने बीच पाकर ग्रामवासी घबरा गये और इन खतरनाक चिह्नों के उद्गम के विषय में किसी भी प्रकार की जानकारी होने से इन्कार करने लगे। इसके बाद सन्देह की सूई पूरे देश में भ्रमण करनेवाले साधुओं की ओर घूमी और कुछ समय तक बड़े पैमाने पर उनकी धर-पकड़ चलती रही। वैसे किसी साक्ष्य के अभाव में उन्हें छोड़ देना पड़ा था। उन दिनों वर्तमान कानूनों तथा अधिनियमों की सुविधा उपलब्ध न थी। बाद में पता चला कि आम के पेड़ों पर ये पिण्ड अच्छी फसल की आशा में शुभ चिह्न के रूप में चिपकाये गये थे।

"स्वामी विवेकानन्द उन दिनों बड़े सबेरे उठकर ग्रैंड ट्रंक रोड अथवा किसी ग्राम्य पथ पर तब तक चलते रहते थे, जब तक कि कोई उन्हें भिक्षा के लिए रोक नहीं लेता अथवा धूप की उष्णता उन्हें ठहरकर सड़क के किनारे लगे वृक्ष के नीचे विश्राम करने को मजबूर नहीं कर देती। एक दिन सुबह जब वे इसी प्रकार चले जा रहे थे, तो पीछे से किसी ने पुकारते हुए उन्हें रुकने को कहा। पीछे मुड़ने पर उन्होंने पूरी वर्दी में बेंत लहराते हुए एक दाढ़ीवाले पुलिस अधिकारी को देखा। और भी कई सिपाही उसके पीछे-पीछे चले आ रहे थे। निकट आकर उसने भारतीय पुलिस के अपने सर्वविदित नरम स्वर में पूछा कि वे कौन हैं। विवेकानन्द ने उत्तर दिया, 'खाँ साहब, जैसा कि आप देख रहे हैं, मैं एक साधु हूँ।' थानेदार ने क्रोधपूर्वक गुर्राते हुए कहा, 'सारे साधु बदमाश होते हैं।' चूँकि भारत के पुलिसवाले झूठ न बोलने के लिए विख्यात हैं, अत: ऐसे स्पष्ट तथ्य का कोई प्रतिवाद नहीं किया जा सकता था। पुलिस अधिकारी गरजा, 'मेरे पीछे-पीछे चले आओ, तुम्हें अन्दर रखने की व्यवस्था करूँगा।' स्वामीजी ने मृदु स्वर में पूछा, 'कितने दिनों के लिए?' वह बोला, 'एक पखवारे के लिए भी हो सकता है या फिर एक महीने के लिए भी हो सकता है!' स्वामीजी उसके निकट गये और बड़े अनुनय-विनय के स्वर में बोले, 'खाँ साहब, बस केवल एक महीने के लिए? क्या आप मुझे छह महीनों के लिए या फिर कम-से-कम तीन या चार महीनों के लिए अन्दर नहीं कर सकेंगे?' पुलिस अधिकारी का चेहरा उतर गया और वह देखता ही रह गया। उसने शंकापूर्वक पूछा, 'तुम एक महीने से अधिक जेल में क्यों रहना चाहते हो?' स्वामीजी ने फुसफुसाहट के स्वर में कहा, 'जेल का जीवन इससे काफी अच्छा है। सुबह से शाम तक इस प्रकार भटकते रहने की तुलना में वहाँ का काम बड़ा आसान है। अभी तो मेरा भोजन भी अनिश्चित है और प्राय: मुझे भूखे ही रह जाना पड़ता है। जेल में हर रोज दो समय भोजन तो मिल ही जायगा। यदि आप कुछ महीनों के लिए मुझे बन्द कर दें, तो मैं आपका बड़ा शुक्रगुजार होऊँगा।' यह सब सुनकर खाँ साहब के चेहरे पर निराशा तथा बेरुखी के भाव उभर आये और उन्होंने अचानक ही स्वामीजी को तत्काल चले जाने का आदेश दे दिया।...

"स्वामी विवेकानन्द ने अपना जो एक अन्य अनुभव मुझे बताया था, वह थोड़ा दुखद-सा था। उन दिनों उन्होंने एक विशेष व्रत ले रखा था और वह यह था कि वे बिना किसी से भिक्षा माँगे या पीछे मुड़कर देखे, दिन भर अविराम चलते रहेंगे और अयाचित रूप से किसी के ठहराने पर ही ठहरेंगे तथा खिलाने पर ही खायेंगे। कभी-कभी उन्हें एक-दो दिन निराहार ही रह जाना पड़ता था। एक दिन सूर्यास्त के समय वे किसी धनाढ्य व्यक्ति के अस्तबल के पास से होकर गुजर रहे थे। एक सईस सड़क पर खड़ा देख रहा था। स्वामीजी को दो दिनों से भोजन नहीं मिला था और वे बड़े ही दुर्बल तथा थके हुए दिख रहे थे। सईस ने उनका अभिवादन करके उनकी ओर देखते हुए कहा, 'साधु बाबा, आज आपका कुछ खाना हुआ क्या?' स्वामीजी ने उत्तर दिया, 'नहीं, आज मैंने कुछ नहीं खाया है।' तब सईस उन्हें अस्तबल में ले गया और उनके हाथ-पाँव धुलाने के बाद अपनी रोटियाँ तथा चटनी उनके समक्ष रख दीं। चटनी बड़ी तीखी थी, किन्तु विवेकानन्द को भ्रमण के दौरान तीखा खाने की आदत पड़ गयी थी, क्योंकि उनके खाने में मिर्च प्राय: ही रहती थी। भोजन के समय मैंने उन्हें बड़ा स्वाद लेते हुए मुट्ठी भर तीखी हरी मिर्च खाते देखा है। विवेकानन्द ने रोटी तथा चटनी खा ली, परन्तु उसके बाद ही उनके पेट में भयानक जलन होने लगी। तीव्र पीड़ा के मारे वे धरती पर लोट गये। सईस ने दोनों हाथों से अपना सिर पीट लिया और विलाप करते हुए बोला, 'यह मैंने क्या किया, एक साधु को मार डाला!' खाली पेट इतनी तीखी चटनी खा लेने के कारण ही उन्हें इतनी पीड़ा हुई थी। ठीक उसी समय सिर पर टोकरी लिए

एक आदमी उधर से गुजर रहा था। सईस का रुदन सुनकर वह ठिठक गया। विवेकानन्द ने उससे पूछा कि टोकरी में क्या है। उसने बताया – इमली। विवेकानन्द ने कहा, 'अहा, इसी की तो मुझे जरूरत थी।' उन्होंने थोड़ी-सी इमली ली और उसे पानी में घोलकर पी गये। उसका आशानुरूप फल हुआ। इमली ने उनके पेट की जलन तथा पीड़ा को समाप्त कर दिया। थोड़ी देर विश्राम करने के बाद विवेकानन्द उठे और अपनी राह चल दिये।''[६]

वाराणसी में धर्मचर्चा

कई ग्रन्थों में वैद्यनाथ-दर्शन के बाद उनके गाजीपुर होकर वाराणसी जाने की बात लिखी है। पर हमें ऐसा प्रतीत होता है कि वे सीधे ही काशीधाम गये और बाबू प्रमदादास मित्र के मकान में ठहरे। चौखम्बा मुहल्ले में उनका चार मंजिला भवन था। निचली मंजिल तहखाने के समान थी; जिसके ऊपर एक विशाल खुली छत थी और एक किनारे तीन-मंजिली अट्टालिका थी। बीच-बीच में कहीं दुर्गामण्डप था, कहीं शिव-मन्दिर था, कहीं झूला पड़ा था, तो कहीं कचहरी थी और वह स्थान सदा कामकाज के कलरव से गूँजता रहता था। इसी के बीच प्रमदा बाबू राजर्षि के समान ज्ञान-भक्ति का आस्वादन करते हुए अपने सांसारिक कर्तव्यों का पालन कर रहे थे। प्रमदा बाबू भी शिवमय स्वामीजी तथा बालयोगी गंगाधर को एक साथ पाकर मानो आनन्द-सागर में निमज्जित हो गये और हर प्रकार से उनकी सेवा-यत्न करने लगे। दिन के समय तहखाने में ही उनके विश्राम की व्यवस्था कर दी गयी, ताकि उत्तरी भारत की गर्मी से उन्हें कष्ट न हो। बाबा विश्वनाथ के आनन्द-कानन में वीरेश्वर स्वामी विवेकानन्द और स्वामी अखण्डानन्द ने कुछ दिन बड़े आनन्द में बिताये।[७]

स्वामीजी तथा प्रमदा बाबू की प्रतिदिन हिन्दू सामाजिक आचार-विचारों तथा शास्त्रों पर गहन चर्चाएँ हुआ करती थीं। तथापि उनका मन तो हिमालय के उत्तुंग शृगों के बीच किसी निर्जन स्थान में जाकर ध्यान में डूब जाने को उत्सुक था। उन्हें यह पूर्ण विश्वास था कि भविष्य में उनके भीतर एक ऐसी अदम्य शक्ति जागने वाली है, जो सम्पूर्ण राष्ट्र तथा सारे विश्व की आत्मचेतना को जाग्रत कर सकेगी। एक दिन बातचीत के दौरान वे सहसा बोल उठे, ''अबकी बार जब मैं यहाँ लौटूँगा, तो समाज पर बम की भाँति फट पड़ूँगा; और समाज कुत्ते की भाँति मेरा अनुसरण करेगा।''

कहा नहीं जा सकता है कि स्वामीजी ने ऐसी विस्फोटक भविष्यवाणी किस सन्दर्भ में चर्चा के समय की थी। स्वामी गम्भीरानन्दजी ने लिखा है – ''इतने दिनों बाद हम लोग केवल अनुमान कर सकते हैं। प्रमदा बाबू धर्म के क्षेत्र में थियोसोफिस्टों के प्रेमी थे, पर सामाजिक क्षेत्र में रूढ़िवादी थे; जबकि स्वामीजी आध्यात्मिक क्षेत्र में सनातनी, पर सामाजिक दृष्टि से प्रगतिवादी थे। एक ओर जहाँ वे रूढ़ियों-चमत्कार आदि को पसन्द नहीं करते थे, वहीं दूसरी ओर वे निष्प्राण आचार-विचारों में भी आस्था नहीं रखते थे। दोनों के बीच पहले से ही पत्रों के द्वारा इन विषयों पर तर्क-वितर्क होते रहते थे। यहाँ पर निश्चय ही उसने और भी गम्भीर रूप धारण कर लिया होगा। हम अनुमान कर सकते हैं कि स्वामीजी अपनी अपूर्व और मौलिक दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से रख देते थे और प्रमदा बाबू उसकी सार्थकता पर अविश्वास या व्यंग करते थे। अत: विचारधारा में अवरोध होने पर स्वामीजी द्वारा सहसा उत्तेजित स्वर से ऐसा कह बैठना आश्चर्य की बात नहीं थी। तो भी यह कितना सत्य था! इसके बाद वे अमेरिका में विजय प्राप्त करने के बाद ही वाराणसी लौटे थे और तब सारा भारतवर्ष विवेकानन्द के नाम से गुंजायमान हो रहा था। एक और बात द्रष्टव्य है। यद्यपि अब तक स्वामीजी प्रमदा बाबू को नियमित पत्र लिखा करते थे, परन्तु इस बार विदा लेने के बाद उन्हें फिर कोई पत्र नहीं लिखा, इतना कहना ही काफी है। हाँ, काफी काल बाद एक अन्तिम पत्र में उन्होंने दोनों के बीच गम्भीर मतभेद की बात का उल्लेख किया था। अस्तु, दोनों की मित्रता स्थायी न होने पर भी रामकृष्ण संघ के प्रारम्भिक दौर में काशी आने वाले रामकृष्ण संघ के संन्यासियों की सेवा के लिए प्रमदा बाबू ने जो कुछ किया था, उसे कोई जीवनीकार भूल नहीं सका, और न ही अन्य बातें उठाकर प्रमदा बाबू की गरिमा को कम किया जा सकता। इस अन्तिम बार भी उन्होंने स्वामीजी के प्रति विशेष अनुराग दिखाया था और उन लोगों की सुख-सुविधा के लिए हर प्रकार का प्रयास किया था।''[८]

शरत् महाराज तथा सान्याल ने अल्मोड़ा से १२ अगस्त को प्रमदा बाबू को एक पत्र लिखकर स्वामीजी तथा अखण्डानन्द जी के आगमन का समाचार जानने की इच्छा व्यक्त की थी। उसका उत्तर उन्हें २३ अगस्त को मिला और उन्हें ज्ञात हुआ कि दोनों युवा संन्यासी वाराणसी में आकर प्रमदा बाबू के आतिथ्य में निवास कर रहे हैं। उन्हें देखने की व्यग्रता व्यक्त करते हुए उनसे अल्मोड़ा आने का अनुरोध करते हुए शरत् महाराज तथा सान्याल महाशय ने उसी दिन एक पत्र लिखा। उक्त अंग्रेजी पत्र का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है –

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

अल्मोड़ा,

२३ अगस्त, '९०

६. स्वामी विवेकानन्द की पावन स्मृतियाँ, अद्वैत आश्रम, पृ.
७. स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी अन्नदानन्द, नागपुर, पृ. ६१
८. युगनायक विवेकानन्द, खण्ड १, प्रथम सं., पृ. २४५-४६

प्रिय नरेन और गंगा,

आज प्रमदा बाबू के पत्र से यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि तुम लोग बनारस आ गये हो और अल्मोड़ा के लिये रवाना होनेवाले हो। हम लोग तुम दोनों को देखने के लिये बड़े व्यग्र हैं और इसी कारण इतने दिनों से इधर भ्रमण कर रहे हैं। यदि इस बार हम तुम लोगों को नहीं देख सके, तो फिर न जाने दुबारा कब आपस में मिलने का सौभाग्य होगा। कृपा करके जितना शीघ्र हो सके, यहाँ आ जाओ, कम-से-कम हमारे इस अनुरोध को तो अवश्य स्वीकार करो। हम लोग तुम्हारा उत्तर मिलने तक अथवा अगले महीने (सितम्बर) की २ तारीख तक भी प्रतीक्षा करेंगे। सूचना मिलने पर बद्रीसाह रेलवे स्टेशन से तुम्हारे यहाँ तक की यात्रा की व्यवस्था कर देंगे। हम लोग सकुशल हैं; ईश्वर को धन्यवाद कि तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक है।

सस्नेह तुम्हारे,

शरत् और सान्याल[९]

यह पत्र सम्भवत: अगस्त के अन्त तक वाराणसी पहुँचा होगा, अत: सम्भावना है कि यह पत्र उन्हें प्राप्त नहीं हुआ, क्योंकि तब तक वे अयोध्या के लिये प्रस्थान कर चुके थे।

अयोध्या की पुनर्यात्रा

स्वामीजी सीधे हिमालय जाना चाहते थे, परन्तु अखण्डानन्द के मन में एक विशेष कारण से उन्हें अयोध्या ले जाने का विशेष आग्रह था। एक बार वार्तालाप के दौरान उन्होंने बताया था, ''स्वामीजी की इच्छा थी कि मार्ग में अन्यत्र कहीं भी न उतरकर हम लोग काशी से सीधे उत्तराखण्ड चले जायँ। अयोध्या में सीतारामजी का एक मन्दिर है। उस मन्दिर के महन्त बड़े त्यागी तथा प्रेमी साधु थे। मैंने स्वामीजी से विशेष अनुरोध किया कि क्यों न हम उन प्रेमी साधु का दर्शन करने के बाद उत्तराखण्ड की ओर बढ़ें, परन्तु स्वामीजी बिल्कुल भी राजी नहीं हुए, वे सीधे हिमालय जाना चाहते थे। वे मुझे खूब डाँटते हुए कहने लगे – तू बाबूराम के साथ क्यों नहीं चला गया? जितने सील-लोढ़े, देवी-देवता, मन्दिर देखेगा, बाबूराम वहाँ घुसकर लोटपोट लगाने लगता है। उसी प्रकार उन्होंने थोड़ी देर बाबूराम को भी निशाना बनाकर बुरा-भला कहा। वे मुझसे बड़ा प्रेम करते थे, इसी से ऐसी खरी-खोटी सुनाया करते थे। उनकी ऐसी डाँट-फटकार सुनकर भी मैं अयोध्या के दो टिकट खरीद लाया। इस पर स्वामीजी खूब गम्भीर होकर रेलगाड़ी में चढ़े, परन्तु मेरे साथ बोलना बिल्कुल बन्द कर दिया।

''यथासमय गाड़ी अयोध्या स्टेशन जा पहुँची और हम दोनों ट्रेन से नीचे उतरे। मैं स्वामीजी के लिए हुक्के का चिलम लिए इक्के पर बैठा। काशी के स्टेशन से अब तक उनके साथ मेरी कोई बात नहीं हुई थी। वे मुझ पर ऐसे चिढ़ गये थे कि मेरे हाथ से हुक्का लेकर फेंक दिया। अस्तु, हम इक्के पर बैठकर सरयूतट पर के विख्यात लछमन घाट के पास सीताराम के मन्दिर में ठहरे। रात को हम प्रसाद पाकर सो गये। उस रात महन्तजी के साथ अधिक बातचीत नहीं हो सकी। तब भी मेरे साथ स्वामीजी की बातें बन्द थीं। मेरे मन की जो हालत थी, उसे अब क्या बताऊँ!

''युगलबल शरण के शिष्य जानकीबल शरण वहाँ के महन्त थे। उनकी खूब लम्बी दाढ़ी थी और वैष्णव होकर भी शरीर पर तिलक आदि कोई चिह्न न था। वे खूब बड़े महन्त थे – आय बहुत थी। इच्छा करने पर वे सोने की थाल में खा सकते थे, परन्तु बड़े त्यागी, प्रेमी तथा वैराग्यवान थे। थाल में न खाकर वे अतिथि-अभ्यागतों के साथ शाल के पत्ते में ही प्रसाद ग्रहण करते थे। उनके एक नागा सहकारी थे, जिनके गले में बड़े-बड़े रुद्राक्षों की माला थी, बड़े जवान थे और हाथ में एक मोटा लट्ठ लिए रहते थे। महन्तजी जानकीबल शरण सम्पत्ति का सारा काम उन्हीं के हाथ में सौंपकर अपना सारा समय साधन-भजन में बिताया करते थे।

''इसके पूर्व भी एक बार मैं वहाँ गया था। और महन्तजी का त्याग, वैराग्य तथा प्रेम देखकर अब स्वामीजी के साथ उनका परिचय करा देने के लिए मैं बलपूर्वक उन्हें वहाँ ले गया था। अगले दिन प्रात:काल मैंने महन्तजी के साथ स्वामीजी का परिचय करा दिया। त्याग-वैराग्य तथा भक्ति-प्रेम के विषय में दोनों के बीच काफी बातचीत के बाद प्रेमी कवि हाफिज की निष्ठा के बारे में भी बात हुई।

''स्वामीजी मुझ पर इतने चिढ़े हुए थे कि उसी समय से पिछली रात तक उन्होंने मेरे साथ कोई बात नहीं की थी। परन्तु महन्तजी के साथ बातें करने के बाद मेरे प्रति कृतज्ञता से उनके वे पद्मपलाश के समान बड़े-बड़े दोनों नेत्र डबडबा आये और मेरे ऊपर खूब प्रसन्न होकर वे महन्तजी की खूब प्रशंसा करने लगे। प्रेमी महन्तजी भी मेरे सामने उनकी प्रशंसा में बहुत कुछ कहने लगे और उन्हें बलपूर्वक वहाँ लाने के कारण भी उन्होंने मेरे प्रति कृतज्ञता व्यक्त की।''[१०]

स्वामीजी के मन में और भी दो-एक दिन अयोध्या-वास करने की इच्छा हुई, पर हिमालय के आकर्षण ने उन्हें ठहरने नहीं दिया। मार्ग में वे अखण्डानन्द से बोले, ''इसीलिए तो तुझे इतना मानता हूँ। अन्य कोई होता तो मेरी नाराजगी देख कर इस ओर लाने का साहस ही नहीं जुटा पाता। सचमुच ही बड़ा आनन्द हुआ। ऐसे साधुओं का दर्शन दुर्लभ है।''

❖ (क्रमश:) ❖

९. स्वामी सारदानन्देर जीवनी (बँगला), ब्र. अक्षय चैतन्य, कोलकाता, बंगीय संवत १३६२, पृ. ७२-७३

१०. स्वामी अखण्डानन्दके जेरूप देखियाछि (बँगला), पृ. ९-१०

स्वामी ब्रह्मानन्द के संस्मरण

स्वामी निर्वाणानन्द

(भगवान श्रीरामकृष्ण के एक प्रधान शिष्य तथा रामकृष्ण मठ तथा मिशन के प्रथम संघाध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्दजी आध्यात्मिक भावों के एक अपूर्व ज्योतिपुंज थे। उनके बारे में ये संस्मरण हालीवुड (अमेरिका) से प्रकाशित होनेवाली अंग्रेजी द्विमासिक पत्रिका 'वेदान्त एंड द वेस्ट' के सितम्बर-अक्तूबर, १९५४ के अंक में प्रकाशित हुए थे। वहीं से स्वामी विदेहात्मानन्दजी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

महाराज* के साथ मेरी पहली भेंट वाराणसी के रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम में हुई। उक्त आश्रम गरीबों व पीड़ितों की भलाई में निरत एक अस्पताल है, जिसमें वहाँ के संन्यासी तथा ब्रह्मचारी रोगियों को भगवान की प्रतिमूर्ति मानकर उनकी सेवा किया करते हैं। इसी उच्च आदर्श से प्रेरित होकर संन्यासी बनने की तीव्र इच्छा लिये मैं सेवाश्रम में सम्मिलित हुआ। अपनी पहली मुलाकात के पूर्व ही मैंने 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ में उनके बारे में पढ़ रखा था और उनके साथ पत्र-व्यवहार भी कर चुका था। वाराणसी में मैंने श्रीरामकृष्ण के दो अन्य शिष्यों स्वामी तुरीयानन्द तथा स्वामी शिवानन्द के भी दर्शन किये। मुझे ऐसा लगा मानो ये लोग आध्यात्मिकता के संरक्षक हों। सेवाश्रम के कार्यों की व्यस्तता के बीच भी मेरे मन में सतत इच्छा बनी रहती थी कि मैं कब जाकर महाराज के दर्शन कर सकूँगा। उनकी आँखें सदा ही उनकी सहानुभूति तथा उनके अतीन्द्रिय बोध का आभास दिया करती थीं। श्रीरामकृष्ण ने उनके बारे में कहा था कि उनकी आँखों में उसी शून्यता का भाव है, जो अपने अण्डे को सेती हुई एक मुर्गी की आँखों में दीख पड़ती है।

उनके तेजोद्दीप्त आनन्दमय मुखमण्डल तथा बालसुलभ सरलता के माधुर्य ने मुझे उनकी ओर और भी अधिक आकृष्ट किया। अपने दैनन्दिन कार्यों को समाप्त कर लेने के बाद मुझे जब कभी फुरसत मिलती, मैं उनके पास जाने तथा सेवा करने से न चूकता। उन्होंने मुझ पर कृपा करके कभी-कभी अपने लिये कुछ पकाने या अपने शरीर की मालिश करने का आदेश दिया था। यद्यपि ऐसा सौभाग्य काफी अल्प समय के लिये मिलता, तथापि मैं स्वयं को धन्य मानता। इस प्रकार सेवा करके कभी-कभी मैं आनन्दविभोर हो उठता था। मेरे मन में यह पक्का विश्वास हो गया था कि महापुरुष का संग करना मेरे लिये अतीव आवश्यक है, क्योंकि ईश्वर-आत्मा या अन्य अतीन्द्रिय चीजों को समझने या धारण कर पाने का एकमात्र उपाय उनकी कृपा ही है। थोड़े दिनों तक वाराणसी के आश्रम में निवास करने के पश्चात् महाराज जब अन्यत्र चले गये, तो मेरे मन में उनके साथ रहने की इच्छा और भी बलवती हो उठी। हृदय से उठी हुई प्रार्थना को भगवान सदैव सुना करते हैं और मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ।

वाराणसी से मैंने महाराज को पत्र लिख कर पूछा था, "क्या ठाकुर सचमुच ही विद्यमान हैं?" कुछ दिनों बाद उनका उत्तर मिला, "यह पत्र मिलते ही बेलूड़ मठ चले आओ।" मैं मठ में पहुँचकर दुमंजले पर (स्वामीजी के कमरे के पास) स्थित कार्यालय में महाराज को प्रणाम करके ज्योंही खड़ा हुआ, वे बोल उठे, "कहीं तेरा सिर तो नहीं फिर गया है? वे (ठाकुर) सचमुच ही हैं, नहीं तो किसके सहारे हम सारे जीवन पड़े रहते?"

* * *

निम्नलिखित घटना सम्भवत: १९१८ ई. के जाड़ों में हुई थी। उन दिनों महाराज कलकत्ते में बलराम बोस के भवन में निवास कर रहे थे; सेवक के रूप में मैं भी उनके साथ था। कलकत्ते के भवानीपुर मुहल्ले की एक भक्त महिला, जो महाराज के ही एक शिष्य अचल कुमार मैत्र, सालीसीटर की पत्नी थीं, यदा-कदा उनका दर्शन करने बलराम-भवन में आया करती थीं। वहाँ से वे श्रीमाँ के घर अर्थात् उद्‌बोधन कार्यालय जाती थीं। वहाँ स्वामी सारदानन्दजी रहा करते थे, जो उन भक्त-महिला को काफी मानते थे। एक बार उक्त महिला के मन में श्रीरामकृष्ण की एक संगमरमर की मूर्ति बनवाने का विचार आया और इस विषय में उन्होंने सारदानन्दजी के साथ चर्चा की। सारादानन्दजी ने उन्हें इस कार्य में उत्साहित किया। उन दिनों कलकत्ता के झाऊतला मुहल्ले में एक प्रसिद्ध मराठी मूर्तिकार निवास करते थे। उन्होंने मूर्तिकार की कार्यशाला में जाकर मूर्ति बनाने का आर्डर दिया और यथाशीघ्र उसे पूरा करने का अनुरोध किया। इसके बाद वे यदा-कदा उद्‌बोधन कार्यालय में आकर सारदानन्दजी को मूर्ति-निर्माण की प्रगति से अवगत कराती थीं। मिट्टी का मॉडल तैयार हो जाने पर वे सारदानन्दजी के पास आयीं और उनसे उसे देखकर स्वीकृति प्रदान करने का अनुरोध किया।

इस वार्तालाप के कुछ ही दिनों बाद एक दिन प्रात:काल स्वामी सारदानन्दजी मूर्ति से सम्बन्धित सारी बातों से महाराज को अवगत कराने बलराम-मन्दिर आये। उन्होंने महाराज से स्टूडियो में चलकर मूर्ति को देख लेने की अपील की। क्षण भर चुप रहने के पश्चात् महाराज बोले, "शरत्! मैं ठाकुर की कौन-सी मूर्ति को स्वीकृति दूँगा? ठाकुर को तो एक ही दिन में मैंने अनेक भावों में देखा है। कभी-कभी वे कृशकाय से एक कोने में बैठे दीख पड़ते थे; फिर थोड़ी देर बाद ही अपनी

* स्वामी ब्रह्मानन्दजी रामकृष्ण संघ में 'महाराज', 'राजा महाराज' तथा 'राखाल महाराज' के नाम से भी सुपरिचित हैं।

देह तथा वस्त्रों तक को भूलकर तालियाँ बजाते हुए कीर्तन गाते दीख पड़ते थे। तदुपरान्त कभी वे गहन समाधि में डूब जाते और उस समय उनका मुख दिव्य आनन्द से उद्भासित हो उठता तथा शरीर से दिव्य-ज्योति विकिरित हुआ करती थी। फिर कभी-कभी वे दीर्घ काया में दक्षिणी बरामदे में लम्बे-लम्बे डग भरते हुए टहला करते थे। इनमें से उनके कौन से रूप का अनुमोदन करूँगा?''

सारदानन्दजी ने विनयपूर्वक कहा, ''महाराज, मेरा तात्पर्य उस रूप से है, जिसके बारे में उन्होंने बताया था कि इसकी घर-घर में पूजा होगी। आपको उसी भाव वाली मूर्ति को स्वीकृति देनी होगी।'' महाराज ने मुस्कुराते हुए कहा, ''ठीक है, मैं जाऊँगा।'' महाराज को उसी दिन अपराह्न में स्टूडियो ले जाने की तैयारी हुई। उक्त अवसर पर स्वामी शिवानन्द तथा और भी अनेक साधु साथ हो लिये। गोलाप-माँ तथा योगीन-माँ भी वहाँ गई थीं।

महाराज ने बड़ी सावधानीपूर्वक मूर्ति का निरीक्षण करने के बाद मूर्तिकार की ओर उन्मुख होकर कहा, ''देखिये, आप ने ठाकुर को थोड़ा सामने की ओर झुका हुआ बनाया है।''

मूर्तिकार ने उत्तर दिया, ''आपका कहना सही है, परन्तु यदि कोई भी अपने हाथों को मिलाकर इस प्रकार अपने पैरों पर रखे, तो उसे सामने की ओर थोड़ा झुकना होगा।''

महाराज बोले, ''हमने कभी भी ठाकुर को इस प्रकार बैठते हुए नहीं देखा। आपका कहना साधारण मनुष्यों के मामले में सत्य है, परन्तु यह नियम ठाकुर पर लागू नहीं होता। उनकी बाहें इतनी लम्बी थीं कि उनकी हथेलियाँ घुटनों तक पहुँच जाया करती थीं।''

फिर महाराज ने ठाकुर के कानों के बारे में समझाते हुए मूर्तिकार से कहा, ''देखिये, आम तौर पर लोगों के कान भौंहों के ऊपर से शुरू होते हैं, परन्तु ठाकुर के कान आँखों की लाइन के नीचे से शुरू हुए थे।''

वहाँ उपस्थित सभी लोग काफी उत्सुकतापूर्वक श्रीरामकृष्ण के शारीरिक गठन की इन विशेषताओं को सुन रहे थे। मूर्तिकार ने महाराज के निर्देशानुसार मॉडल में सुधार करना स्वीकार करते हुए कहा, ''आप कृपया एक सप्ताह बाद आयें, तब तक मैं मॉडल बनाने का कार्य पूरा कर लूँगा।''

एक सप्ताह बाद महाराज सबको साथ लेकर पुन: स्टूडियो में गये और सुधरे हुए मॉडल को देखकर पूर्ण सन्तोष व्यक्त करते हुए बोले, ''अब यह बिल्कुल ठीक है।'' मॉडल इतना सजीव हो उठा था कि उपस्थित सभी ने उसमें ठाकुर की साक्षात् उपस्थिति का बोध किया। थोड़े दिनों बाद संगमर्मर की मूर्ति तैयार हो गई तथा उन भक्त महिला को सौप दी गई। इस मूर्ति में ठाकुर का रूप ठीक-ठीक अभिव्यक्त हुआ था, परन्तु संगमर्मर पर काले धब्बे उभर आने के कारण चेहरे का भाव बदल गया, जिसकी वजह से मूर्ति को पेंट से ढक देना पड़ा था। उन भक्त के दिवंगत होने के पश्चात् उस मूर्ति की वाराणसी के श्रीरामकृष्ण अद्वैत आश्रम के मन्दिर में स्थापना हुई, जहाँ कि पिछले काफी काल से उसकी प्रतिदिन पूजा होती रही है। आज भी वह मूर्ति वहीं है।

श्रीरामकृष्ण के निर्देशानुसार स्वामी विवेकानन्द ने मठ के संचालन का भार महाराज को सौंपा था और उनकी महासमाधि के बाद महाराज ने इस उत्तरदायित्व को पूर्ण मनोयोग के साथ सँभाला था। उनके असाधारण व्यक्तित्व तथा आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा संघ की दिनों दिन उन्नति होती गई। महाराज का चेहरा देखकर उनमें अन्तर्निहित शक्तियों तथा उनकी नेतृत्व की क्षमता का आकलन नहीं किया जा सकता था। कर्मों के फल रूप में आनेवाले आशा-निराशा, आत्मगौरव आदि शक्ति-प्रदर्शन आदि भावों से वे पूर्णतया मुक्त थे।

महाराज में किसी भी स्थान के वातावरण को परिवर्तित कर उसे आध्यात्मिक भावों से पूर्ण कर देने की अद्भुत क्षमता थी। निकट सम्पर्क में आने पर वे लोगों को हँसा-हँसाकर लोटपोट कर दिया करते थे, परन्तु दूसरे ही क्षण जब वे सहसा नीरव हो जाते तो सारा वातावरण एक दिव्य उपस्थिति से गम्भीर हो उठता। स्वामी तुरीयानन्दजी ने एक बार कहा था – महाराज अपने चारों ओर एक ऐसे आध्यात्मिक वातावरण की सृष्टि कर लेते थे कि जो कोई भी उस परिधि के भीतर आ जाता, उसमें उनका कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य ही संक्रमित हो जाता था। बहुत-से लोग अपनी समस्याओं के समाधान पूछने महाराज के पास आया करते थे; परन्तु ज्योंही वे उनके समीप पहुँचते, उन्हें अपना समाधान पूछने की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। समस्याएँ उनकी उपस्थिति में आप-से-आप सुलझ जाया करती थीं और लोग अपने अहंकार तथा लौकिक सुख-दु:ख को भूलकर अलौकिक आनन्द में विभोर हो उठते थे।

नगर हो या वन, महाराज सर्वत्र ही अत्यन्त सादा जीवन बिताते थे। वे जहाँ कहीं भी ठहरते संन्यासी तथा भक्तगण उनके दर्शन को एकत्र हो जाते और उनके शुद्ध तथा नि:स्वार्थ प्रेम का आस्वादन पाकर मुग्धचित्त लौटते थे। एक दृष्टि, एक स्पर्श या उपस्थिति मात्र से ही वे लोगों का मन ऊपर उठाकर उनका जीवन तक बदल डालते थे। यहाँ पर हम उनके जीवन की कुछ ऐसी घटनाओं का वर्णन करेंगे, जो इस कथन का मर्म और भी स्पष्ट कर देती हैं।

देवेन्द्रनाथ बोस श्रीरामकृष्ण के एक ऐसे भक्त थे, जिनका उनके सभी अन्तरंग शिष्यों और विशेषकर स्वामी अखण्डानन्द के साथ अत्यन्त सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध था। ठाकुर के लीला-संवरण के बाद देवेन बाबू कासिम बाजार के महाराजा के

दीवान हो गये और वे कई वर्षों तक मठ के संन्यासियों से मिलने नहीं आ सके थे।

एक दिन स्वामी अखण्डानन्दजी की संयोगवश ही देवेन बाबू से भेंट हुई और वे उन्हें अपने साथ बेलूड़ मठ ले आये। महाराज उन दिनों मठ में ही थे। इतने समय बाद देवेन बाबू को देखकर वे विशेष द्रवित हुए। बाद में अखण्डानन्दजी को कहा, "अच्छा गंगाधर ! तेरे देवेन को क्या हो गया है? वह तो अब चाल-ढाल, बात-व्यवहार में काफी बदल गया है। उसके चेहरे पर सांसारिक भाव झलकता है और वह कपड़े भी छैल-छबीले पहनने लगा है। क्या उसने ठाकुर तथा हम सबको भुला दिया है?"

स्वामी अखण्डानन्द से कुछ कहते न बन पड़ा। परन्तु अगली दफा जब उनकी देवेनबाबू से मुलाकात हुई तो उन्होंने बातचीत के बीच महाराज की सारी बातें उन्हें कह सुनाई।

देवेनबाबू बोले "पता नहीं क्या बात है, पर मैं अपनी अवस्था से सन्तुष्ट नहीं हूँ।" कुछ दिनों बाद देवेनबाबू महाराज से मिलने आये। मुझे महाराज के कमरे के बाहर बैठे देखकर उन्होंने पूछा, "महाराज कहाँ है?"

मैंने कहा – "आप कृपया बैठिये। महाराज कमरे में हैं; मैं उन्हें आपके आगमन की सूचना देता हूँ।"

देवेन बाबू के चेहरे पर चंचलता की स्पष्ट झलक थी और वे चुपचाप बैठ पाने में असमर्थ थे। वे महाराज से मिलने को इतने आतुर थे कि वे उनके कमरे से बाहर आने तक प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे। महाराज बाहर निकलने को तैयार हो ही रहे थे कि वे अन्दर घुस गये। देवेनबाबू को देखकर महाराज उनके समीप आये, उनकी छाती पर अपनी हथेली रख दी और थपथपाते हुए कहने लगे, "क्या हुआ देवेन बाबू? सब ठीक हो जायगा। ठाकुर का चिन्तन कीजिये।"

देवेन बाबू के मन में सहसा आमूल परिवर्तन आया। वे महाराज के चरणों में झुक पड़े और बोले, "महाराज, मेरा सांसारिक भाव पूर्णरूपेण जा चुका है। मैं कितना पतित हो रहा था, पर आपकी कृपा तथा आशीर्वाद ने मुझे ऊपर उठा लिया। अब मुझे कोई भी दु:ख या कष्ट नहीं है।" इसके बाद महाराज – देवेन बाबू को साथ लिए बाहर पोर्टिको तक आये और मुझे उनको प्रसाद देने का आदेश दिया। उस दिन के बाद से देवेन बाबू प्राय: ही महाराज से मिलने आया करते थे। उस अवसर पर हुई अनुभूति उनके जीवन पर एक गहरी छाप छोड़ गई थी।

महाराज की महासमाधि के काफी काल बाद मैंने देवेन बाबू से 'धर्मप्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द'[१] ग्रंथ की भूमिका लिख देने का आग्रह किया था। उक्त लेख का निम्नलिखित अंश विशेष महत्त्वपूर्ण है, "जो लोग श्रीरामकृष्ण के मानसपुत्र के घनिष्ठ सम्पर्क में आये थे, वे कहते हैं कि महाराज अमित ब्रह्मतेज-सम्पन्न थे, उनकी बहुमुखी शक्ति स्रोतस्वती की भाँति शत-शत धाराओं में प्रवाहित होती थी। किन्तु इतना तेज, इतनी शक्ति किस तरह मृण्मय आधार में इतनी शान्त रहती थी, इसे भला कोई कैसे जाने? बिजली का तार देखने में तो निर्जीव है, पर स्पर्श करने से मालूम पड़ता है, कि उसमें किनती अमोघ शक्ति छिपी है। कहते हैं कि ब्रह्मज्ञ पुरुष का शरीर मृण्मय नहीं चिन्मय होता है। किन्तु इन चिन्मय पुरुष के संस्पर्श में आने से यह बात सहज ही समझ में नहीं आती थी। अहा, किस अलौकिक प्रेम से वे सबको भुलाये रखते थे!"[२] देवेन बाबू ने मुझसे कहा था, "क्या आप को वह दिन याद है, जब मैं महाराज से मिलने आया था? उन्होंने जब अपनी हथेली से मेरा सीना स्पर्श किया, तो मुझे अचानक एक झटका-सा लगा था, जिसके फलस्वरूप मेरी अतीत की स्मृतियाँ ताजी हो उठीं और मैं भक्ति एवं व्याकुलता से परिपूर्ण हो उठा। ठाकुर की सारी बातें पुन: याद हो आने से मेरी जीवनधारा बिल्कुल ही पलट गई थी।"

१९२१ ई. में श्रीरामकृष्ण की जन्मतिथि के अवसर पर वाराणसी के आश्रम में उनके पुराने विग्रह-पट के स्थान पर नवीन पट की स्थापना होनेवाली थी। इस उपलक्ष्य में स्वामी सारदानन्द, स्वामी तुरीयानन्द और स्वामी सुबोधानन्द भी वहाँ उपस्थित थे। विशेष पूजा हो जाने के बाद वेदपाठ तथा भजन आदि होने लगे। महाराज ने किसी को श्रीरामकृष्ण के बारे में रचित 'ऐसेछे नूतन मानुष' भजन गाने का अनुरोध किया। उक्त भजन शुरू होने के साथ ही महाराज उठ खड़े हुए और भावावेश में नाचने लगे। स्वामी तुरीयानन्द और स्वामी सारदानन्द भी उसमें सम्मिलित हो गये। तत्पश्चात् वहाँ उपस्थित सभी संन्यासियों, भक्तों और यहाँ तक कि छोटे बच्चों ने भी उस नृत्य में भाग लिया। सभी लोग आनन्दविभोर होकर जगत् को विस्मृत कर बैठे।

लोग उस दिव्य आनन्द में तन्मय थे, तभी एक भक्त वहाँ आए और फुसफुसाते हुए महाराज तथा स्वामी तुरीयानन्दजी से कहने लगे कि भोजन का समय हो चुका है। तुरीयानन्दजी उन्हें लौटाने के बाद बोले, "यह आदमी कैसा नासमझ है ! ऐसा अवसर दुर्लभ तथा धन्य है और उसे भोजन ही अधिक महत्त्वपूर्ण लग रहा है। महाराज अपनी आध्यात्मिक शक्तियाँ तथा भाव प्राय: गुप्त ही रखते हैं, पर आज वे अभिव्यक्त हो उठी हैं। उन्होंने हमारी चेतना को ऊपर उठा दिया है।"

* * *

* उक्त बंगला ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद 'ध्यान, धर्म तथा साधना' नाम से रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा प्रकाशित हुआ है।

२. 'ध्यान, धर्म तथा साधना', प्रथम सं., पृ. १

महाराज अपने आश्रितों को कैसे नियंत्रित किया करते करते थे, अधोलिखित घटना इसका उदाहरण है – मठ के तीन युवा ब्रह्मचारी अपने पूर्वजीवन में क्रान्तिकारी आन्दोलन से जुड़े थे। मठ में प्रवेश लेने बाद भी उन पर पुलिस की नजर थी। वे हर तीसरे दिन आकर उनकी मठ में उपस्थिति का सत्यापन किया करते थे।

एक बार ये युवक कहीं तीर्थदर्शन को गए और समय पर मठ न लौट सके, जिसके फलस्वरूप महाराज को बड़ी परेशानी हुई। आखिरकार जब वे मठ लौटे, तो महाराज ने उनकी अच्छी खबर ली और मठ से निष्कासित कर दिया। बाहर जाते समय मुख्य द्वार के पास उन लोगों की मुलाकात स्वामी प्रेमानन्दजी से हुई। उनकी आपबीती सुनने के पश्चात् प्रेमानन्दजी ने उन्हें सलाह दी कि वे मठ-परिसर से बाहर न जायँ और एक वृक्ष के नीचे छिपकर प्रार्थना करें। उन लोगों ने वैसा ही किया।

दोपहर को भोजन करते समय महाराज ने मुझे कलकत्ते से कुछ अच्छे पकवान मँगवा लेने का आदेश दिया, जिन्हें मैंने दो घण्टे के भीतर मँगवा कर रख लिये। दोपहर को थोड़ा आराम करके उठने के बाद महाराज ने मुझसे पूछा कि उनके आदेशानुसार मैंने वे विशेष पकवान मँगा लिये हैं या नहीं। मैंने उत्तर दिया, "जी महाराज, सब कुछ तैयार है।" मुझे इसका भान तक न था कि यह सब व्यवस्था किसके लिये की जा रही है।

तदुपरान्त उन्होंने कहा – "क्या तुम्हें पता है कि वे तीनों ब्रह्मचारी कहाँ हैं?

मैंने उत्तर दिया – "नहीं महाराज ! मैंने उन्हें नहीं देखा।"

महाराज बोले – "जाओ ढूँढ़ कर लाओ।"

मैं उन्हें ढूँढ़ते हुए बगीचे में गया और शीघ्र ही एक पेड़ के तले पाकर, उन्हें जाकर महाराज से मिलने को कहा। महाराज ने उन्हें वह घटना बिल्कुल ही भूल जाने को कहा और बोले "देखो, हम लोग साधु हैं; हमारा क्रोध जल पर बने चिह्न के समान है। ... अब ये चीजें खा लो !"

निम्नलिखित घटना महाराज की शिशुवत् सरलता तथा विनोदप्रियता का सुन्दर नमूना है। बेलूड़ मठ में निवास करते समय एक दिन महाराज का पेट थोड़ा गड़बड़ था, अत: वे बोले कि वे रात को कुछ नहीं खायेंगे। स्वामी प्रेमानन्द के पूछने पर मैंने उन्हें भी यह बात कह दी। महाराज लेटे। प्रात:काल चार बजे महाराज को भूख लग आई थी। उनके बगल के कमरे में एक कूलर के अन्दर बहुत-सी मिठाइयाँ रखी हुई थीं। महाराज ने वहाँ जाकर सारी मिठाइयाँ खा लीं।

प्रतिदिन की भाँति उस दिन भी प्रात:काल स्वामी प्रेमानन्द महाराज को प्रणाम करने आये। उनके कुशल आदि पूछने पर महाराज बच्चों के समान शिकायत के स्वर में बोले, "अरे ! मैं भूखा हूँ। इन लोगों ने अब तक मुझे कुछ खाने को नहीं दिया।" सुनते ही मैं उनके लिए कुछ लाने कूलर की ओर दौड़ पड़ा, परन्तु वह बिल्कुल खाली पड़ा था।

प्रेमानन्दजी ने पूछा, "क्या हुआ? कहीं तुमने कूलर को खुला तो नहीं छोड़ दिया था? बिल्ली आकर सब चट कर गयी क्या? तुमसे क्यों ऐसी लापरवाही हुई?"

मैं बोला, "मेरी तो समझ में नहीं आता। अभी-अभी जब मैंने कूलर देखा तो वह बन्द था, तो भी चीजें गायब हो गई। समझ में नहीं आता कि बिल्ली भीतर कैसे घुसी होगी।"

महाराज मुस्कुराते हुए प्रेमानन्दजी से बोले, "हाँ बाबूराम भाई, एक बड़ी बिल्ली आकर कूलर में घुस गई थी। वह बिल्ली इतनी बड़ी थी कि उसने कूलर को खोल लिया और बन्द भी कर दिया।" और 'बड़ी बिल्ली' कहते हुए उन्होंने अपनी ओर संकेत किया।

* * *

श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि राखाल मेरा पुत्र है – मेरा मानस पुत्र। निम्नलिखित घटना यह प्रदर्शित करती है कि ठाकुर के लीलासंवरण के बाद भी उनके बीच यह सम्बन्ध बना रहा। बात १९१८ ई. की है। महाराज कलकत्ते के बागबाजार अंचल में स्थित बलराम बोस के भवन में ठहरे थे। उनका सेवक होने के नाते, मैं भी उनके साथ ही था। उस दिन महाराज ने अपना दोपहर का भोजन समाप्त किया और उसके बाद सामान्यतया वे थोड़ा आराम किया करते थे।

मैं उनके कमरे के बाहर की बेंच पर बैठा हुआ था, तभी एक युवती अपने भाई को साथ लिए हुए वहाँ आ पहुँची। उसके महाराज का दर्शन करने की अनुमति माँगने पर मैंने बताया कि यह उनके आराम का समय है, अत: इस समय उन्हें मिलने में असुविधा होगी। इस पर लड़की बहुत दु:ख प्रकट करने लगी, अत: मैंने महाराज के पास जाकर उसकी बात कह सुनाई। महाराज मधुर स्वर में बोले, "देखो, अपनी इस वृद्धावस्था में मैं भोजन के तुरन्त बाद बातें नहीं कर सकता। उसे करीब दो घण्टे बाद आने को कहो।"

जब मैंने महाराज का यह सन्देश उस लड़की को दिया, तो वह रोने लगी। बोली कि वह स्वामी सारादानन्द के निर्देश पर ही यहाँ आई है। फिर वह दुखी स्वर में बोली, "ठीक है, मैं सिर्फ उन्हें प्रणाम करके ही चली जाऊँगी। कृपया इतना तो कर दीजिये।" उसकी दुरवस्था पर व्यथित होकर मैं पुन: महाराज के पास गया। मैं बोला, "शरत् महाराज[३] ने उसे भेजा है। वह सिर्फ आपको प्रणाम करके

३. उनके गुरुभाई स्वामी सारदानन्दजी रामकृष्ण संघ में शरत् महाराज के नाम से भी परिचित थे।

चली जायगी।'' जब मैंने स्वामी सारदानन्दजी का नाम लिया, तब महाराज को कोई आपत्ति न रही।

लड़की अत्यन्त आनन्दपूर्वक महाराज का दर्शन करने को गई और उन्हें प्रणाम किया। महाराज जब उससे बातें करने लगे, तो मैं बरामदे में चला आया। बाद में मुझे पता चला कि प्रणाम करते समय वह लड़की भावावेग में सिसकने लगी थीं और महाराज एक दिव्य भाव में जाकर मौन हो गये थे। थोड़ी देर बाद स्वाभाविक अवस्था में आकर उन्होंने उस लड़की की ओर दृष्टिपात किया और बोले, ''उठो बेटी, बोलो क्या बात है।'' परन्तु वह रोती ही रही। वह खड़ी तो हुई पर उसके मुख से शब्द न निकले। फिर वह कमरे में ही टँगे श्रीरामकृष्ण के एक चित्र की ओर संकेत करते हुए बोली, ''उन्होंने ही मुझे आपके पास आने का आदेश दिया है।'' महाराज ने पुन: उसे सब कुछ विस्तारपूर्वक बताने को कहा।

तब उसने अपनी रामकहानी बतानी शुरू की। चौदह वर्ष की आयु में ही उसका विवाह हुआ था। विवाह के दो हफ्ते बाद उसके पति का देहावसान हो गया। जिसके फलस्वरूप उसका भविष्य अन्धकारमय हो गया था। निराशा में वह फूट-फूटकर रोया करती और भगवान से निरन्तर प्रार्थना करती, ''हे प्रभो ! मेरा क्या होगा? मैं अकेली और असहाय हूँ, क्या करूँ? मुझे रास्ता दिखाओ।'' लगभग एक वर्ष बाद श्रीरामकृष्ण उसके समक्ष स्वप्न में प्रकट हुए और बोले, ''रो मत ! मेरा पुत्र राखाल बागबाजार में रहता है। उसके पास जा। वह तेरी सहायता करेगा।'' उसे श्रीरामकृष्ण या राखाल महाराज के बारे में कुछ भी ज्ञात न था। अब वह सोचने लगी कि बागबाजार को कैसे जाना हो, क्योंकि उसका मकान वहाँ बहुत दूर कलकत्ते के दूसरे छोर पर स्थित था। उसने अपनी ससुराल में किसी से भी इस स्वप्न का जिक्र नहीं किया। उसकी माँ कलकत्ते के ही टालीगंज मुहल्ले में रहती थी। वह अपने ससुराल की अनुमति लेकर माँ से मिलने गई और उन्हें सब कुछ कह सुनाया। उसकी माताजी श्रीरामकृष्ण के बारे में जानती थीं। माँ से उनके बारे में सुनने के बाद वह लड़की अपने भाई के साथ बागबाजार गई। वहाँ उसने पूछ-ताछ किया कि क्या यहाँ आसपास कोई साधु-संन्यासी रहते हैं? लोगों ने बताया कि वहाँ रामकृष्ण संघ के 'उद्बोधन कार्यालय' में कुछ संन्यासी रहते हैं। उस समय वहाँ स्वामी सारदानन्द तथा कुछ अन्य संन्यासी उपस्थित थे। उसने उनको अपने अद्भुत दर्शन की बात कही और शरत् महाराज ने उसे महाराज के दर्शनार्थ बलराम मन्दिर भेजा था।

दो घण्टे से भी अधिक समय तक वह लड़की महाराज के सान्निध्य में रही। तदुपरान्त उन्होंने मुझे बुलाया। कमरे में प्रवेश करते ही मैं समझ गया कि लड़की को दीक्षा मिल चुकी है। महाराज ने मुझे उसके तथा उसके भाई के लिये कुछ खाद्य-सामग्री लाने का आदेश दिया। इस घटना के बाद वह लड़की प्राय: ही महाराज से मिलने आया करती थी। १९२२ ई. में महाराज की महासमाधि के बाद भी मैंने उसे दो-एक बार मठ में देखा था।

१९४२ ई. में गैरिक वस्त्र पहने एक संन्यासिनी बेलूड़ मठ में मुझसे मिलने आई। उसके साथ एक युवा शिष्या भी थी। प्रारम्भ में मैं उसे पहचान नहीं सका, परन्तु जब उसने चौबीस वर्ष पूर्व बलराम-मन्दिर में महाराज के साथ हुई अपनी मुलाकत की याद दिलायी, तो तुरन्त सारी घटना मेरे मानसपटल पर सजीव हो उठी। मैंने पूछा – तुम इतने दिनों तक कहाँ रही। वह बोली कि उसने महाराज के निर्देशानुसार वाराणसी, वृन्दावन, हरिद्वार आदि तीर्थों में साधना करते हुए अपने दिन बिताये और अब वह कलकत्ते में कालीघाट के पास अपनी कुछ शिष्याओं के साथ निवास करती है। उसके चेहरे से स्पष्ट प्रतीत होता था कि उसे कुछ आध्यात्मिक उपलब्धियाँ भी हो चुकी हैं।

लगभग तीन वर्ष बाद, संन्यासिनी के साथ आने वाली वही युवा शिष्या मुझसे मिलने बेलूड़ मठ आयी। मैंने जब उससे उसकी गुरु उन संन्यासिनी का संवाद पूछा, तो उसने बताया कि दो वर्ष पूर्व उनका देहान्त हो चुका है। जब वे अपने अन्तिम दिनों में बीमार थीं, तो एक दिन प्रात:काल उन्होंने पंजिका मँगाकर निकट भविष्य का एक अच्छा दिन चुना। उन दिनों उन्होंने अपनी शिष्याओं को प्रार्थना व ध्यान में अपना समय बिताने का आदेश दिया और श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ और महाराज के नाम का उच्चारण करते हुए पूर्ण चेतना की अवस्था में देहत्याग कर दिया।

* * *

मठ भवन के ऊपर पूर्व की ओर के बरामदे में महाराज एक आरामकुर्सी पर बैठे हैं। उनके समीप सात-आठ साधु-ब्रह्मचारी भी बैठे हैं। चर्चा चल रही है। उपस्थित संन्यासियों में से एक जन तपस्या के लिये निर्जन में जाकर सिर्फ ध्यान-धारणा में समय बिताना चाहते हैं। उनकी अनुमति के लिये प्रार्थना करने पर महाराज बोले, ''ऐसा कर सको, तो अच्छा है, पर भला कितने लोग कर सकते हैं? यदि इच्छा बड़ी तीव्र हो, तो दो-चार-छह महीने इस प्रकार बिताया जा सकता है। परन्तु तुम्हारा देह-मन तपस्या के उपयुक्त नहीं है। तुम्हें कर्म और उपासना का साथ-साथ अभ्यास करना होगा।''

हम लोगों ने महाराज से श्रीरामकृष्ण के बारे में कुछ बताने का अनुरोध किया। वे थोड़ी देर चुप रहने के बाद बोले, ''वे पकड़ से, स्पर्श से परे हैं'' – इतना कहते हुए वे अन्तर्मुखी हो गये और कुछ समय बाद पुन: बोले, ''मैं तुम लोगों के लिये प्रार्थना करता हूँ, तुम लोग भी उनसे प्रार्थना करना, वे स्वयं ही समझा देंगे।''

१९१८ ई. बलराम मन्दिर में मठ के एक संन्यासी ने आकर महाराज को साष्टांग प्रणाम किया। महाराज ने उनका तथा मठ का कुशल-मंगल पूछा, फिर उनकी वेशभूषा की ओर दृष्टिपात करते हुए बोले, "देख, थोड़ा दबा-दबू कर रख ! ठाकुर युगावतार होकर आये हैं, उनके नाम पर न जाने कितने ही मठ-मन्दिर आदि खड़े होंगे, इतनी धन-सम्पत्ति आएगी जिसकी सीमा नहीं। यदि तुम लोगों में त्याग-संयम न रहा, तो असल चीज को ही खो बैठोगे।"

भुवनेश्वर के मठ में सीढ़ी के पास खड़े रामलाल दादा ने थोड़े खेदपूर्वक महाराज से कहा, "आप लोग जब ठाकुर के पास थे, तो आप लोगों ने कितना साधन-भजन किया था और उसके बाद भी कितनी भीषण तपस्या की थी ! पर आजकल के लड़कों में वैसा कुछ देखने को नहीं मिलता।"

उत्तर में महाराज बोले, "देखो रामलाल दादा ! तुम नहीं जानते कि ये लड़के अच्छा होने के लिये कितनी चेष्टा कर रहे हैं। जो भीतर से जितना ही भला होने का प्रयास करता है, साधना करता है, उसे बाह्य जगत् से उतने ही धक्के मिलते हैं। इतना ही नहीं, सूक्ष्म जगत् से भी बुरी वृत्तियों वाली सूक्ष्म जीवात्माएँ उसके मन में प्रवेश करती हैं। दादा, तुम नहीं जान सकते कि इनमें से कौन क्या कर रहा है और क्या नहीं कर रहा है। लोग यदि ठाकुर का नाम लेकर पड़े भी रह सके, तो गुरुकृपा से सब कुछ हो जायेगा।"

महाराज भुवनेश्वर मठ के हाल में विराजमान हैं। रामलाल दादा भी उपस्थित हैं। महाराज एक साधु से बोले, "देखो, गुरुकृपा से तुम लोगों का सब कुछ हो जायेगा। परन्तु यदि इसी जीवन में प्रत्यक्ष रूप से (जीवन्मुक्ति का) आनन्द पाना चाहते हो, तो दीन-हीन, कंगाल और अकिंचन होकर उनसे प्रार्थना करनी होगी।"

* * *

स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने १० अप्रैल, १९२२ ई. को लीला-संवरण किया था। मार्च में वे बलराम बाबू के भवन में रहने आये। उस समय उन्हें अपने आसन्न अवसान का पूर्वाभास हो चुका था।... मठ से कलकत्ता जाने के पूर्व उन्होंने स्वामी विवेकानन्द द्वारा बनवायी हुई मन्दिर की योजना के कागजात मँगवाये और श्रीरामकृष्ण के अन्य शिष्यों की उपस्थिति में कहा कि स्वामीजी इस मन्दिर का निर्माण करवाना चाहते थे और देखना होगा कि उनकी इच्छा अपूर्ण न रह जाय। बाद में उन लोगों की समझ में आया कि एकमात्र यही कार्य वे अपने जीवनकाल में पूरा न कर सके थे और इसकी जिम्मेवारी वे संघ को सौंप गये थे।

तिरोभाव के कुछ ही दिनों पूर्व 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' के लेखक श्री 'म' महाराज से मिलने बलराम मन्दिर के उस छोटे-से कमरे में आये। श्री 'म' (मास्टर महाशय) ने उनसे पूछा, "तबियत कैसी है? क्या थोड़ा अच्छा लग रहा है?"

महाराज ने इसका कोई उत्तर न दिया और बोले, "मास्टर महाशय ! ठाकुर इस बार आकर जीवलोक तथा शिवलोक के बीच एक सेतु निर्माण कर गये गये हैं। अब साधारण जीवों के लिये भगवान को पाना कितना सहज हो गया है।" कुछ क्षणों बाद उन्होंने मास्टर महाशय से पुन: कहा, "जब युगावतार आते हैं, तो पृथ्वी पर प्रबल आध्यात्मिक शक्ति का विकास होता है, जिसके फलस्वरूप थोड़े प्रयास से ही मनुष्य में चैतन्य का उदय हो जाता है।"

महाराज हम लोगों से कहा करते थे, "इस अवसर को मत छोड़ो, मेहनत करो ! एक बार मौका चूक जाने पर फिर पछताओगे। श्रीरामकृष्ण सत्य के सार-स्वरूप थे। उनके आदर्श के अनुसार अपना जीवन गढ़ डालो, तुममें से जो लोग चिकित्सालय में कार्य कर रहे हैं, वे भी शुद्ध और नि:स्वार्थ कर्म के द्वारा लक्ष्य तक पहुँचेंगे, सत्य की अनुभूति करेंगे।" अपनी इस अन्तिम अस्वस्थता के पूर्व महाराज को एक विचित्र अनुभूति हुई थी। एक बार वे आधी रात को सहसा उठकर अपने बिस्तर पर बैठ गये। मैंने देखा कि वे बड़ी गम्भीरतापूर्वक बैठे हुए हैं। मैंने पूछा – आप सोये क्यों नहीं? तो कोई उत्तर न मिला। मेरे दुबारा पूछने पर भी वे मौन ही रहे। सुबह वे खूब तड़के उठे और बिस्तर से उतर कर अविचल खड़े हो गये। तब उन्होंने मुझे बताया, "पिछली रात ठाकुर आये थे, पर उन्होंने मुझसे कुछ नहीं कहा। ऐसा तो वे कभी करते नहीं।" पहले जब कभी भी उन्हें श्रीरामकृष्ण का दर्शन मिलता था, तो वे उनके साथ बातें किया करते थे, परन्तु इस बार वे बिना कुछ कहे ही अन्तर्धान हो गये थे और इस कारण महाराज चिन्तित थे। वे मुझसे पुन: कहने लगे, "ठीक है, जो होने को है, होगा। मैं जैसा हूँ, ठीक हूँ। मेरी अपनी कोई भी इच्छा नहीं है। मेरे मन में कुछ भी भोग करने की कामना नहीं है। किसी तरह का तप करने या भगवद्दर्शन तक की इच्छा नहीं है। मेरी एकमात्र इच्छा है कि उनकी इच्छा पूर्ण हो। मैंने उनकी शरण ली है।" इस दर्शन के बाद ही वे बीमार पड़े और १८ दिनों बाद उनका देहान्त हो गया।

महाराज आम तौर पर अपने भाव दृढ़तापूर्वक गोपनीय रखते थे, पर जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने साधु-भक्तों के लिये अपने गहन प्रेम का द्वार मानो पूर्णतया खोल दिया था और हार्दिक स्नेहपूर्वक उन्होंने सब पर आशीर्वादों की वर्षा की थी। उनके दक्षिणेश्वर आने के पूर्व ही ठाकुर ने उन्हें एक दर्शन में एक कमल के बीच श्रीकृष्ण के संगी के रूप में नृत्य करते हुए देखा था और भविष्यवाणी की थी कि जब उसे अपना वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जायगा, तो वह इस

(शेष अगले पृष्ठ पर नीचे)

सच्चे धर्म का स्वरूप

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(रामकृष्ण संघ के दशम अध्यक्ष स्वामी वीरेश्वरानन्द जी ने १५ जून १९७१ ई. को मैसूर के श्रीरामकृष्ण आश्रम में अँग्रेजी में जो प्रवचन दिया था, उसी का स्वामी विदेहात्मानन्द जी द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद यहाँ पाठकों के लाभार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

'धर्म' शब्द से क्या अभिप्राय है? स्वामी विवेकान्द कहते हैं – अनुभूति ही धर्म है। फिर 'राजयोग' ग्रन्थ में वे कहते हैं – "प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य तथा अन्त: प्रकृति को वशीभूत कर आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, भक्ति, मनोनिग्रह या ज्ञान – इनमें से एक, अधिक या सभी उपायों के द्वारा अपना ब्रह्मभाव व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ। यही सम्पूर्ण धर्म है; मतवाद, अनुष्ठान-पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य बाह्य क्रिया-कलाप इसके गौण अंग मात्र हैं।" धर्म की प्रथम परिभाषा के अनुसार हमें ईश्वरानुभूति करनी होगी और इसी को सच्चा धर्म कहेंगे। द्वितीय परिभाषा में स्वामीजी कहते हैं कि अपने अन्तर्निहित देवत्व का विकास करना ही धर्म है। ईश्वरत्व ही हममें से प्रत्येक का वास्तविक स्वरूप है, और उसकी अभिव्यक्ति ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि मनुष्य-देह पाने पर सर्वप्रथम कर्तव्य है, भगवान-लाभ, बाकी चीजें गौण हैं। स्वामीजी ने भी यही बात कही। हमारे अन्तर्निहित देवत्व की अभिव्यक्ति का उन्होंने जीवन का उद्देश्य बतलाया और कहा कि ज्ञान-कर्म आदि चार मार्गों में से किन्हीं एक, दो या सबका आश्रय लेकर हमें मुक्त हो जाना होगा।

मन्दिर, मतवाद और अनुष्ठान आदि को स्वामीजी ने धर्म का गौण अंग कहा; परन्तु आम तौर पर हम धर्म के गौण अंगों, यथा – मन्दिर जाना, कोई व्रत-अनुष्ठान या उपवास करना आदि को ही धर्म समझ बैठते हैं। हम इन्हीं को महत्त्व देते हुए धर्म का सब कुछ मान बैठते हैं। हम भूल जाते हैं कि चरम सत्य की धारणा और उसकी उपलब्धि करने का प्रयास ही धर्म है। इसके फलस्वरूप कभी-कभी तो हम इतने संकीर्ण हो जाते हैं कि जो लोग हमसे भिन्न उपायों के द्वारा धर्माचरण या सत्योपलब्धि का प्रयास करते हैं, उन्हें हम अधार्मिक समझ बैठते हैं। हम लोगों का सौभाग्य है कि बीच-बीच में पृथ्वी पर ऐसे महापुरुष जन्म लेते हैं, जो हमें 'धर्म' शब्द का यथार्थ तात्पर्य समझा जाते हैं तथा ईश्वरोपलब्धि का राजमार्ग दिखा जाते हैं। इस प्रकार वे धर्म के सम्बन्ध में फैले कुसंस्कारों और भ्रान्त-धारणाओं के रूप में संचित धर्म-ग्लानि को दूर कर हमारे सामने शास्त्रों की उचित व्याख्या रख जाते हैं। उनके जीवन तथा वाणी में शास्त्रों की सच्ची व्याख्या मुखरित हो उठती है, शास्त्रों की दुर्बोध बातें स्पष्ट हो उठती हैं और तब हमें पता चलता है कि धर्म किसे कहते हैं। एक बार भी जब इस तरह के कोई महापुरुष हमें मिल जाते हैं, तो हम धर्म के नाम पर स्वेच्छाचार करनेवालों के द्वारा दिग्भ्रमित नहीं हो पाते।

स्वामीजी के कथनानुसार पूर्वोक्त चार मार्गों में से किसी का भी आश्रय लेकर मुक्त होना ही धर्म का सार-सर्वस्व है। अब प्रश्न उठता है कि किससे मुक्त होना? – बन्धन से। हमारे बन्धन का क्या स्वरूप है? आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्र पर अपने प्रसिद्ध भाष्य में कहते हैं – "आत्मा और अनात्मा, चैतन्य और जड़ की प्रकृति प्रकाश और अन्धकार के समान परस्पर-विरोधी हैं, तथापि हम आत्मा और अनात्मा को मिला डालते हैं।" हम आत्मा का धर्म अनात्मा पर और अनात्मा का धर्म आत्मा पर आरोपित करके कहते हैं, "मैं इस कमरे के अन्दर हूँ। मैं भोग कर रहा हूँ। मैं अज्ञानी हूँ। आदि।" जब मैं स्वरूपत: असीम आत्मा हूँ, तो मैं इस कमरे के भीतर कैसे सीमाबद्ध रह सकता हूँ? शरीर को ही 'मैं' समझ बैठने के कारण हम कहते हैं कि मैं कमरे में हूँ। ठीक इसी प्रकार मन के साथ एकात्म-बोध हो जाने के कारण ही हम सुख-दुख आदि भावों से ग्रस्त होकर अपने को सुखी या दुखी समझते हैं। इस प्रकार हम लोग अपने वास्तविक आत्मस्वरूप को अनात्मा के साथ एक समझ, अनात्मा को ही आत्मा मानकर बन्धन में पड़े हुए कष्ट उठा रहे हैं। अज्ञान के फलस्वरूप ही ऐसा हुआ है। अज्ञान ने हमारे ज्ञान को

पिछले पृष्ठ का शेषांश

जगत् से विदा हो जायगा। जीवन के अन्तिम दिनों में स्वामी ब्रह्मानन्द को भी वही दर्शन मिला था और जब उन्होंने इसका उल्लेख किया, तो उनके गुरुभाई लोग समझ गये कि अब वे देहत्याग करने वाले हैं। तब उन्हें और भी अनेक दर्शन हुए थे और महाराज ने अपना स्वाभाविक संयम त्यागकर हृदयस्पर्शी भाषा में उनका वर्णन किया था।

स्वामी सारदानन्दजी ने एक बार बातचीत के दौरान कहा था, "महाराज और ठाकुर के बीच कोई भेद नहीं है। महाराज हमारे संचालक थे, पर वे हमें अपने अध्यक्ष पद की हैसियत से नहीं, वरन् प्रेम की वशीकरण-शक्ति से चलाते थे। ❑

ढँक रखा है, इसीलिए हम यह दुख भोग रहे हैं।

सवाल उठता है कि इस बन्धन से मुक्त होने का कोई उपाय भी है क्या? वैराग्य या त्याग का भाव ही धर्मजीवन आरम्भ करने के लिए हमारी पहली जरूरत है। इस वैराग्य की साधना कैसे की जाय? यह साधना सत्-असत् विचार के द्वारा ही सधती है। इस विचार के फलस्वरूप हम जान सकते हैं कि सत्य क्या है और मिथ्या क्या है। जो वस्तु असत्य और अनित्य है, उनका कोई मूल्य नहीं। एकमात्र सत्य ही हमें स्थायी शान्ति प्रदान कर सकता है। हमें यह जान लेना चाहिए कि इस जगत् का सब कुछ दुःखपूर्ण है। यहाँ सच्चा सुख-जैसा कुछ भी नहीं। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, "**अनित्यम् असुखं लोकम् इमं प्राप्य भजस्व माम्** – जब इस दुःखपूर्ण जगत् में तुम्हारा जन्म हुआ है, तो मेरा भजन करके इस दुखरूपी बन्धन से मुक्त हो जाओ।" बुद्धदेव ने भी यही बात कही। उन्हें भी वैराग्य हुआ था। एक दिन जब वे नगर में भ्रमण करने को निकले; तो मनुष्य का रोग, उसके बुढ़ापे का कष्ट तथा उसकी मृत्यु उनकी दृष्टि में आयी।

यह सब देख उनका मन त्याग के भाव से भर उठा। गीता भी जीवन के दुःखमय पक्ष की ओर आँखें खुली रखने का उपदेश देती है – **जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषानुदर्शनम्**। हमें यह समझना ही होगा कि यह जीवन असार है। जन्म से ही मानव दुख, व्याधि और वृद्धावस्था से कष्ट पाता रहता है और अन्ततोगत्वा काल के गाल में समा जाता है। इस प्रकार जीवन दुखमय है। हाँ, जीवन में यदा-कदा सुख भी दीख जाता है, परन्तु जीवन का अधिकांश दुःखपूर्ण ही है। इस तरह विचारपूर्वक हमें देखना होगा कि इस जगत् से आसक्त रहने में हमें कोई लाभ है या नहीं। उपनिषद् में लिखा है कि परलोक यानी स्वर्ग का सुख भी स्थायी नहीं है। यज्ञादि कर्मो के फलस्वरूप प्राप्त स्वर्ग-सुख का अन्त अवश्यम्भावी है। यज्ञकर्ता को पुण्य का क्षय होने पर पुनः पृथ्वी पर लौटकर जन्म-जन्मान्तर के चक्र में पड़ कर आवागमन करना पड़ता है। इस बात को समझकर ज्ञानी जन स्वर्ग पाने की आकांक्षा का भी परित्याग करते हैं। यह जीवन जन्म-मृत्यु के द्वारा आबद्ध है। अनन्त जीवन या मुक्ति पाने के लिए हमें ज्ञानलाभ या ईश्वरोपलब्धि करनी होगी।

इस प्रकार विचार के द्वारा हम जगत् के सच्चे स्वरूप को समझ सकते हैं। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "यदि जानता कि जगत् सत्य है, तो कामारपुकुर को सोने से मढ़वा डालता।" एक नवाब के एक वजीर की कहानी है। एक रात मूसलाधार वर्षा हो रही थी, मौसम बहुत ही खराब था। नगर के रास्तों में घुटने भर पानी इकट्ठा हो गया था। आधी रात को अपने घर में सोये हुए एक धोबी-दम्पति ने ऐसी आवाज सुनी, मानो कोई उसी रास्ते से होकर जल पार करते हुए चला जा रहा है। वर्षा लगातार हो रही थी, इसलिए चलनेवाले ने थोड़ी देर के लिए धोबी के बरामदे में शरण ली। बाहर पगध्वनि सुनकर धोबी की स्त्री ने अपने पति से कहा, "इस घोर रात में, इस खराब मौसम में रास्ते से होकर कौन जा रहा होगा?" धोबी ने उत्तर दिया, "और कौन होगा? या तो राह का कुत्ता होगा या फिर किसी बड़े आदमी का नौकर होगा। नहीं तो, इस बुरे मौसम की रात में भला कौन बाहर निकलेगा?" वास्तव में वह चलनेवाला नवाब का वजीर था, जिसे नवाब ने एक आवश्यक कार्यवश बुला भेजा था। उसने धोबी-दम्पति की बात सुनी और वह समझ गया कि बड़े आदमी का कर्मचारी होने के कारण उसे कुत्ते की श्रेणी में रखा गया है। उसमें अपने पद के प्रति ग्लानि का भाव पैदा हुआ और वह सब कुछ त्यागकर भगवत्प्राप्ति के लिए तपस्या करने चला गया। जीवन में इस प्रकार कोई आघात लगने पर मनुष्य का मन त्याग के भाव से परिपूर्ण हो उठता है, उसकी सम्पूर्ण जीवनधारा ही बदल जाती है और वह ईश्वर की आराधना में मनोनियोग करता है।

पहले ही कहा जा चुका है कि भगवान की प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है। भगवत्प्राप्ति से तात्पर्य है – अपने अन्तर्निहित ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति करना या दूसरे शब्दों में – बन्धन से मुक्ति। स्वामीजी ने धर्म की परिभाषा करते हुए ज्ञान-कर्म आदि मार्गो की बात कही है। हमें उनमें से एक या एकाधिक मार्गों के सहारे अपना अन्तर्निहित देवत्व प्रकट कर मुक्त होने का प्रयास करना होगा। 'मैं' और 'मेरा' का बोध ही बन्धन है। हम अज्ञानवश आत्मा और अनात्मा को एक मिला डालते हैं और इन दोनों के सम्मिश्रण को 'मैं' और 'मेरा' कहते हैं। इसी 'मैं-मेरा'- बोध तथा अहंकारी रूपी बन्धन से मुक्त होने के लिए ज्ञान आदि चार मार्गों का प्रावधान किया गया है। गीता में भी इन चार रास्तों की बात कही गयी है। इनमें से किसी एक का भी अनुसरण करने पर अहंकार का नाश होता है। इन चारों पथों का उद्देश्य हमारे अहंकार को दूर कर हमें बन्धन मुक्त करना है। सामान्यतः हम एक से अधिक मार्गों का ही अवलम्बन करते हैं। हमारे मन का गठन ही ऐसा है कि एक ही पथ उसके लिए पर्याप्त नहीं होता। भक्ति, ज्ञान, कर्म एवं ध्यान इन भावों के सम्मिश्रण से हमारे मन का गठन हुआ है। इनमें से प्रत्येक हमारी प्रकृति में न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान है। इन सब भावों को एक साथ लेकर ही मुक्तिलाभ के पथ पर चलना श्रेयस्कर है। इसलिए स्वामीजी ने इनमें से एक एकाधिक या सभी उपायों द्वारा मुक्तिलाभ की बात कही है।

वर्तमान युग में हम देखते हैं कि लोग धर्म के नाम पर नाक-भौंह सिकोड़ते हैं। लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते और कहते हैं – "ईश्वर नहीं है, क्योंकि वैज्ञानिक

सत्यों के समान ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इसलिए हम ईश्वर को नहीं मानेंगे। फिर धर्म भी तो एक नहीं, अनेक हैं। और इन विविध धर्मों में भी आपस में विवाद है। अत: कौन-सा धर्म सच्चा है, यह भी तो नहीं कहा जा सकता।'' तर्क करते हुए वे और भी कहते हैं – ''धर्म की कोई जरूरत नहीं, ईश्वर के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं। बहुत हुआ तो यह कहा जा सकता है कि धार्मिक व्यक्तियों के माध्यम से एक ही उद्देश्य की सिद्धि होती है, और वह यह कि परलोक का भय दिखाकर लोगों को नियंत्रण में रखा जा सकता है, उन्हें अच्छी तरह चलाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त धर्म की अन्य कोई उपयोगिता नहीं है।'' यह है आधुनिक मानव का दृष्टिकोण।

अब यदि धर्म का अर्थ अनुभूति या भगवत्प्राप्ति हो, तब तो यह वैज्ञानिक सत्य की श्रेणी में आएगा। विज्ञान का कहना है कि प्रत्येक सत्य का निरीक्षण-परीक्षण करने और जाँच की कसौटी पर खरा उतरने के बाद ही उसे प्रमाणित सत्य के रूप में स्वीकृति मिल सकती है। धार्मिक व्यक्ति कहते हैं कि ईश्वर की प्रत्यक्ष उपलब्धि सम्भव है। ''क्या आपने ईश्वर को देखा है?'' – स्वामी विवेकानन्द के इस प्रश्न के उत्तर में श्रीरामकृष्ण ने यही बात कही थी। स्वामीजी ने मानो आधुनिक मानवजाति के प्रतिनिधि के रूप में ही यह प्रश्न किया था। वर्तमान युग के मानव-मन में जो सन्देह है, आधुनिक शिक्षा में शिक्षित तथा पाश्चात्य दर्शन एवं विज्ञान से परिचित स्वामीजी के मन में भी वही सन्देह उठा था। वे ईश्वर के अस्तित्व के बारे में संशयी हुए थे। इस सन्देह को दूर करने के लिए ही वे अपने परिचित प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति से यह प्रश्न किया करते कि क्या आपने ईश्वर को देखा है? परन्तु कहीं भी उन्हें इस प्रश्न का सीधा उत्तर न मिला। अन्त में श्रीरामकृष्णदेव से यही प्रश्न करने पर उन्होंने उत्तर दिया था – हाँ, ईश्वर को देखा है, उनके साथ बातें की हैं और तू यदि चाहे, तो तुझे भी दिखा दिखा सकता हूँ।'' श्रीरामकृष्ण ने ये बातें इतनी दृढ़ता के साथ कही थीं कि स्वामीजी का ईश्वर के अस्तित्व के बारे में सारा सन्देह चला गया। श्रीरामकृष्ण के स्पर्श से अति चेतन स्तर पर पहुँचकर उन्होंने आध्यात्मिक अनुभूतियों का सत्यापन किया।

विज्ञानवादी कह सकते हैं कि तर्क के द्वारा ईश्वर का अस्तित्व नहीं प्रमाणित किया जा सकता। हाँ, यह सही है कि ऐसा नहीं किया जा सकता; क्योंकि तर्क सीमित है, वह हमारे चेतन स्तर की सीमा के भीतर ही क्रियाशील है। तर्क में असीम को जानने या प्रमाणित करने की क्षमता नहीं है। मन की सहायता से हम असीम की थाह नहीं पा सकते। तर्क-युक्ति तो मन की एक वृत्ति मात्र है, अत: उसके द्वारा ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करना असम्भव है। यदि हम ईश्वर को जान ले सकें, उसे विचार की सीमा में ले आ सकें, तब तो वह ईश्वर नहीं रह जाएगा। तब वह असीम नहीं रहेगा, बल्कि हमारी तरह सीमाबद्ध हो जाएगा। जो कुछ हमारी विचार-बुद्धि के क्षेत्र में आता है, वह सब ससीम है। अत: मन या युक्ति के द्वारा ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करना सम्भव नहीं। यदि हम युक्ति की सहायता से ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, तो कोई दूसरा हमसे भी ज्यादा बुद्धिमान व्यक्ति युक्ति के सहारे ही उसका खण्डन भी कर सकता है। अत: प्रत्यक्ष अनुभूति ही ईश्वर के अस्तित्व का एकमात्र प्रमाण है। अपनी पूर्णसत्ता के द्वारा अतीन्द्रिय स्तर पर हम जो साक्षात्कार करते हैं, वह मन की पहुँच से परे है। हमारा मन पूर्ण सत्ता का एक अंश मात्र है। अत: पूर्ण सत्ता के द्वारा हम जो अतिचेतन (समाधि) की अनुभूति करते हैं, उसे चेतन स्तर की युक्तियों के द्वारा नहीं समझाया जा सकता। परन्तु यह भी सत्य है कि वह युक्ति-विरोधी नहीं होता, क्योंकि युक्तिरूपी वृत्ति से समन्वित हमारा यह मन हमारी पूर्णसत्ता में ही अन्तर्भुक्त है। सत्योपलब्धि का झूठा दावा करके कोई हमें धोखा भी नहीं दे सकता, क्योंकि उसने सत्यानुभूति की है या नहीं, यह उसके आचरण से ही प्रमाणित हो जाएगा। वह मनुष्य मात्र से प्रेम करेगा। धार्मिक अनुभूतियाँ अतीन्द्रिय तथा आत्मपरक होती है, वस्तुपरक नहीं। प्रश्न उठ सकता है कि अमुक ने जो सत्योपलब्धि की है, उसका प्रमाण क्या है? उसके जीवन एवं बाह्य आचरण के द्वारा ही वह प्रमाण प्रकाशित होगा। उसका आचरण देखकर ही हम समझ जाएँगे कि उसे ईश्वरोपलब्धि हुई है अथवा नहीं। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं। अतीन्द्रिय स्तर पर पहुँचकर ही ईश्वर को प्रत्यक्ष किया जा सकता है, और वही उसके अस्तित्व का प्रमाण है। अब यदि विज्ञान के अनुयायी अतीन्द्रिय उपलब्धि को ही न मानना चाहें, तो यह अन्याय होगा यदि एक वैज्ञानिक से विज्ञान के किसी सत्य का प्रमाण माँगा जाय, तो वह कहेगा कि मेरी प्रयोगशाला में आकर, मैंने जिस प्रकार प्रयोग करके देखा है, वैसे ही तुम स्वयं भी परीक्षा करके देख लो कि मैं जो कहता हूँ वह सत्य है या नहीं। एक अतीन्द्रिय-अनुभूति-सम्पन्न व्यक्ति भी यही बात कह सकता है कि मेरे पास आओ, मैं जैसे चलता हूँ, वैसे ही चलो, संयमपूर्ण जीवन बिताओ, मन को नियंत्रित एवं एकाग्र करो, तभी तुम सत्य की उपलब्धि कर सकोगे। दोनों ही क्षेत्रों में एक ही प्रकार का उत्तर मिलता है। हम सत्यापन करके देखने को तो तैयार नहीं हैं, फिर भी कहते फिरेंगे कि सब बेकार की बातें हैं!

भगवान हैं – यह बात पूर्णरूपेण सत्य है। महापुरुषों ने उनका साक्षात्कार किया है। धर्म हमारे जीवन की अनिवार्य

(शेष अगले पृष्ठ पर नीचे)
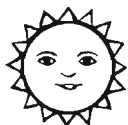
तुलसी की सामाजिक दृष्टि
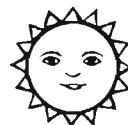
डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा

महाकवि तुलसीदास ने अनेक काव्य-कृतियों की रचना की है, जिनमें राम-चरित-मानस, कवितावली, गीतावली, बरवै रामायण, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल आदि प्रमुख हैं। इन सभी कृतियों के द्वारा कल्याणप्रद जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई है। 'मानस' इनमें अन्यतम है। यह तुलसी के चिन्तन का सार-सर्वस्व है, जिसके माध्यम से उन्होंने न केवल जनमानस को आप्यायित किया, अपितु उसके समक्ष एक सुखद और मंगलमय जीवन का आदर्श भी रखा।

तुलसी के समय का सामाजिक वातावरण पारस्परिक संघर्ष का वातावरण था। राजनीति स्वार्थमयी थी, जातीय विद्वेष व्याप्त था, धार्मिक असहिष्णुता चरम सीमा पर थी। चारों ओर स्वार्थ, अन्याय और पक्षपात का बोलबाला था। धर्म का मर्म ही खो गया था; धर्मगुरु स्वयं को ही ईश्वर सिद्ध करने पर तुले थे। अनेक सम्प्रदाय थे जिन्हें आपसी संघर्ष से ही अवकाश न था, किसी को राह तो वे क्या दिखाते !

आगम वेद पुरान बखानत,
मारग कोटिन जांहि न जाने।
जे मुनि ते पुनि आपु ही आपु
को ईस कहावत, सिद्ध सयाने ।।

तुलसी ने कहा तो यही कि रामकथा लिख रहा हूँ, किन्तु वास्तव में वे अपने युग की व्यथा-कथा लिख रहे थे। मानस में कलियुग का वर्णन अपने युग की विभीषिकाओं का ही चित्रण है। उनका रावण केवल सीताहरण करने वाला रावण नहीं है, वह दरिद्रता-रूपी रावण भी है जिसके द्वारा दुखी किये जाते लोगों की रक्षा का भार वे अपने राम को देते हैं –

खेती न किसान को, भिखारी को न भीखबलि,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी ।।
जीविका विहीन लोग, सीद्यमान सोचबस,
कहैं एक एकन से, कहाँ जाइ, का करी ।।
बेदहू पुरान कही लोकहू बिलोकियत,
सांकरै सबै पर राम रावरे ने कृपा करी ।।
दारिद दसानन दबाई दूनी दीनबन्धु,
दुरित दहन देखि तुलसी हहा करी ।।

तुलसी की पैनी दृष्टि समाज की हर विडम्बना को पहचानती है और समाज की प्रत्येक वेदना उनके हृदय में शूल की भाँति कसकती है; यही कारण है कि वे जाकर किसी गिरि-कन्दरा में नहीं बैठे। जीवन का मन्थन करके उन्हें राम की भक्ति का जो 'रसायन' प्राप्त हुआ था, उसे उन्होंने शब्द-शब्द कर सबके बीच लुटा दिया। यह लोक-मांगल्य ही उनके काव्य का प्रमुख तत्त्व है। उनका सारा जीवन-दर्शन उनकी इस एक चौपाई में समेटा जा सकता है –

परहित सरिस धरम नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ।।

तुलसी की समस्त रचनाधर्मिता व्यक्ति और समाज की परिष्कृति में ही सार्थक होती है; यही कारण है कि संस्कृत में काव्य-रचना की सामर्थ्य होते हुए भी उन्होंने जनभाषा अवधी को अपनी अभिव्यक्ति का गौरव प्रदान किया।

बारहवीं से सोलहवीं शताब्दी के काल में इस देश की सामूहिक चेतना ने भयंकर आत्म-निर्वासन भोगा है, अत: भक्तिकाल के कवियों के समक्ष जो सबसे बड़ा सरोकार था, वह था – इस सामूहिक चैतन्य का पुनरुज्जीवन और पुनर्गठन। कबीर, तुलसी, नानक, शंकरदेव, नामदेव सभी ने अपने काव्य के माध्यम से देश की मुमूर्षु चेतना को नवजीवन देने का प्रयत्न किया, क्योंकि घोर संत्रास के क्षणों में साहित्य ही अभय और क्रान्ति – दोनों का वाहक होता है। तुलसी अपने 'कविकर्म' में अत्यन्त सजग हैं, वे यह अच्छी तरह जानते हैं

पिछले पृष्ठ का शेषांश

आवश्यकता है। धर्म को छोड़ हम कुछ भी नहीं कर सकते। अत: जीवन के चरम लक्ष्य – परमसत्य – की उपलब्धि के लिए हममें से प्रत्येक को कुछ-न-कुछ करना ही होगा। प्राचीन काल में हमारे जीवन का आदर्श था – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष – इस चतुर्वर्ग को प्राप्त करना। मोक्ष परम आदर्श था और धर्म, अर्थ एवं काम का स्थान उससे नीचे था। अपने चरम लक्ष्य इश्वरोपलब्धि को न भूलते हुए, कुछ भोग तथा एस सीमा तक धनसंचय का भी विधान दिया गया था। पर आजकल हम लोग उस आदर्श को भुलाकर येन-केन-प्रकारेण भोग और धन संचय के पथ पर बेतहाशा दौड़ रहे हैं। पृथ्वी पर सर्वत्र यही आधुनिक धर्म चला है। यह बात हमने भुला दी है कि ईश्वरोपलब्धि ही जीवन का मूल आदर्श है और यह कि इसके लिए हमें प्रतिदिन अपना कुछ समय ईश्वर आराधना के लिए देना होगा। हम भगवान से दूर चले आये हैं, इसीलिए आज जगत् में इतनी अव्यवस्था दृष्टि गोचर हो रही है।

इस अव्यवस्था को दूर करे के लिए हमें भगवान् को पुन: लाकर अपने जीवन के केन्द्र में प्रतिष्ठित करना होगा। चाहें जैसे भी हो, हमें अपने अन्तर्निहित देवत्व के विकास के निमित्त नियमित साधना करनी होगी। ❑❑❑

कि वे केवल रामकथा नहीं लिख रहे हैं, बल्कि समाज का निर्माण भी कर रहे हैं। यों तो मध्यकालीन समाज में आती जा रही विकृतियों और विडम्बनाओं से चिन्तित होकर अन्यान्य सन्त कवियों ने भी अपने नीतिपरक उपदेशों से समाज के समक्ष कल्याणप्रद आदर्श रखे और समाज को दिशा देने तथा नियंत्रित करने में सफल भी हुए, किन्तु सर्वाधिक सफल प्रयोग तुलसी का रहा। उन्होंने रामकथा का आश्रय लेकर आदर्शों को व्यावहारिक और सर्वजनग्राह्य रूप में सामने रखा। तुलसी ने न केवल अपने काव्य-नायक श्रीराम, अपितु रामकथा के प्रत्येक पात्र द्वारा किसी जीवन-मूल्य, या किसी परिणति का संकेत किया है। तुलसी का उपदेश सरस और ग्राह्य है, क्योंकि वह उस रामकथा का अवलम्ब लेकर चलता है, जो सहस्रों वर्षों से भारत की जातीय-स्मृति में सुरक्षित और संरक्षित है। राम-चरित-मानस के प्रारम्भ और अन्त में लिखी गई पंक्तियां बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। मानस के प्रारम्भ में वे लिखते हैं – **स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा-भाषा-निबद्ध-मति-मञ्जुलमातनोति** और समाप्त करते हुए कहते हैं – **मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमःशान्तये, भाषा-बद्धमिदञ्चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्।** भाव यह है कि तुलसी ने अपने अन्त:करण के सुख के लिये और अपने मन का अन्धकार दूर करने के लिये भाषा में रघुनाथ-कथा निबद्ध की है। इसका तात्पर्य, किन्तु मात्र इतना ही नहीं है; तुलसी भावबोध के जिस उदात्त स्तर पर खड़े हैं, वहाँ वे सम्पूर्ण मानवता से एकात्म हैं, उनके अन्त:करण में विश्व का मानस समाविष्ट है। मानस की रचना विश्व के तमस् को दूर करने के लिये हुई है। लोक-मंगल ही तुलसी की सामाजिक सोच का मेरुदण्ड है।

तुलसी की सामाजिक दृष्टि पर विचार करने से पूर्व यह निश्चित करना आवश्यक है कि उसे परखने की कसौटी क्या हो। यह भी विचार करना आवश्यक है कि जिसे सामाजिक चेतना कहते हैं, वह क्या है और उसका निर्धारण तथा रूपायन किस प्रकार होता है। क्या मानवीय जीवन और प्रवृत्ति को खण्ड-खण्ड कर उसे समस्या और समाधान की दृष्टि से विश्लेषित करना ही सामाजिक चेतना है, या मनुष्य की अपने परिवेश और समुदाय के प्रति होनेवाली जो समग्र प्रतिक्रिया है, वह सामाजिक चेतना है। विचार करने पर स्पष्ट होता है कि व्यक्ति ही समाज की मूल इकाई और सामाजिक चेतना का केन्द्रबिन्दु है; उसके सम्बन्ध, उसका व्यवहार-बोध, उसके कर्त्तव्य और अधिकार उसकी सामाजिकता का विस्तार हैं, अत: व्यक्ति का अपना चिन्तन, चरित्र और मूल्यबोध ही उसकी सामाजिकता का निर्धारण करते हैं। तुलसी यहीं से अपनी बात शुरू करते हैं। वे व्यक्ति का उदात्तीकरण करते हैं, उसके मानसिक स्वास्थ्य की चिन्ता करते हैं, क्योंकि व्यक्ति उदात्त एवं स्वस्थ होगा, तो समाज भी उदात्त एवं स्वस्थ होगा। मनुष्यों का समूह ही समाज है, अत: व्यक्ति की गुणवत्ता समाज को समृद्ध करती है और व्यक्ति की गुणहीनता समाज को लांछित करती है। समाज को व्यक्ति से अलग नहीं किया जा सकता, इसलिये चाहे तुलसी हों, या विवेकानन्द हों, या गाँधी – वे व्यक्ति-निर्माण की बात करते हैं, क्योंकि एक अच्छा और सन्तुलित समाज अच्छे और सन्तुलित व्यक्तियों से ही बनता है। तुलसी का चिन्तन और भावबोध विशुद्ध भारतीय है और भारतीय जीवनदृष्टि के संरक्षण में ही उसका उपयोग भी हुआ है, अत: तुलसी की सामाजिक दृष्टि की परख हमें भारतीय संस्कृति के स्वीकृत मूल्यबोध के अनुसार ही करनी होगी। सामाजिक कल्याण के भारतीय मानक में तीन तत्त्व हैं। पहला – व्यक्ति-चेतना का सर्वांगीण विकास, दूसरा – व्यक्ति की अपेक्षा समष्टि के हित को प्रधानता और तीसरा – श्रेय-प्रेय विवेक। इन पर संक्षेप में विचार करना आवश्यक है।

पहला तत्त्व है – व्यक्ति-चेतना का विकास। भारतीय दृष्टि मनुष्य के व्यक्तित्व को शरीर और बुद्धि तक सीमित नहीं करती, व्यक्ति की यात्रा शरीर से प्रारम्भ हो आत्मानुभूति में पर्यवसित होती है अत: वह उसे शारीरिक तृप्ति और बौद्धिक विकास से भी ऊपर आत्मा के दिव्य स्तर तक उठाती है। भारतीय चिन्तन अध्यात्मप्रधान चिन्तन है, इसलिये वह ऐसे समाज को आदर्श मानता है, जिसमें व्यक्ति की शारीरिक परितृप्ति और बौद्धिक समृद्धि के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति के भी समुचित अवसर हों, जिससे उसके व्यक्तित्व के बृहत्तर आयामों का भी रूपायन हो सके।

दूसरा तत्त्व है – समष्टि हित। भारतीय संस्कृति लोकमंगल को सर्वोपरि रखती है, उसके सभी आदर्शपुरुष – राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर – इस लोकमांगल्य के प्रतीकभूत हैं। व्यक्ति की निजी स्वार्थपूर्ति की अपेक्षा समाज और प्राणिमात्र का हित, भारतीय लोकचेतना का प्राणतत्त्व है। इस कारण समता, सहिष्णुता, त्याग, आत्मबलिदान और सेवा जैसे जीवनमूल्य इस देश की जीवनपद्धति का अंग रहे हैं।

तीसरा तत्त्व है – श्रेय-प्रेय-विवेक, अर्थात् इच्छित और अभीष्ट के तुलनात्मक महत्त्व का बोध। सुख की अपेक्षा कल्याण अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। जो सुखप्रद है, वह इन्द्रियों का स्वादमात्र है; जो कल्याणकर है, वह जीवन की सार्थक परिणति की भूमिका है। इन्हीं तीन चिन्तन-बिन्दुओं के मध्य हमारी संस्कृति की सामाजिक चेतना व्यक्त और विकसित होती है। तुलसी की सामाजिक दृष्टि भी इसी दिशा का अनुसरण करती है। तुलसीदास अपने नायक श्रीराम के जीवन और चरित्र के द्वारा इन तीनों चिन्तन-बिन्दुओं का विस्तार करते हैं। तुलसी के राम को चाहे परब्रह्म का

अवतार मानें, या महापुरुष, दोनो ही दृष्टियों से वे लोकरंजन और लोकहित के प्रति समर्पित हैं। समष्टि के हित के समक्ष उन्होंने कभी भी अपने हितों की चिन्ता नहीं की, उनका तो अवतरण ही संसार का दु:खभार हरने के लिये हुआ है।

तुलसी के सामाजिक दायित्वबोध का पर्यवसान होता है – जाति-वर्ग-निरपेक्ष मानवतावाद की स्थापना में। यह मानवतावाद ही मानस का प्रमुख प्रतिपाद्य है। मानस का मूलस्वर, उसकी 'थीम' है 'लोकहित' –

मंगल करनि कलिमल हरनि,
तुलसी कथा रघुनाथ की ।।

भगवान शिव रामकथा के प्रथम व्याख्याता हैं, पार्वतीजी के प्रश्न करने पर उन्होंने रामकथा का उपदेश दिया है। रामकथा के विषय में जिज्ञासा करने पर वे पार्वती की सराहना करते हुए कहते हैं –

धन्य धन्य गिरिराज कुमारी ।
तुम समान नहिं कोउ उपकारी ।।
पूंछेउ रघुपति कथा प्रसंगा ।
सकल लोक जग पावनि गंगा ।
तुम रघुवीर चरन अनुरागी ।
कीन्हेउ प्रस्न जगत हित लागी ।।

इस प्रकार संसार के हित के लिये ही राम और रामकथा की अवतारणा हुई है। तुलसी का स्पष्ट मत है कि वही सामर्थ्य, वही ऐश्वर्य और वही कवित्व श्रेष्ठ है, जिससे लोगों का हित हो –

कीरति भनिति भूति भल सोई ।
सुरसरि सम सब कर हित होई ।।

तुलसी का उद्देश्य है 'रामत्व' की स्थापना और 'राम' की भक्ति का विधान। तुलसी के राम – सृष्टि के कण-कण में व्याप्त अस्तित्व की एकरूपता और अखण्ड अद्वैत की विशिष्टाद्वैती अर्थात् साकार अभिव्यक्ति हैं। प्रज्ञा और भावबोध के स्तर पर जो समरस सत्य है, व्यवहार के स्तर पर वही राम का चरित्र है। इस प्रकार राम की भक्ति 'समरसता' की उपासना है। भक्ति इस देश का एक अत्यन्त प्राचीन शब्द और निजी धारणा है। इस शब्द में प्रेम, समर्पण तथा एकनिष्ठता का भाव निहित है और व्यक्ति तथा समष्टि के स्तर पर इसके दोहरे अर्थ हैं। व्यक्तिगत स्तर पर उसका अर्थ है – भगवत्प्रेम, अपने आराध्य के प्रति समर्पण और सामूहिक भावबोध के स्तर पर उसका अर्थ है – भेदभावरहित आस्तिक मानवतावाद। तुलसी कहते हैं – '**सियाराममय सब जगजानी, करहुं प्रनाम जोरि जुग पानी**'। जब सब कुछ 'राममय' है, तब भेदभाव के लिये अवकाश ही कहाँ है?

इस जाति-वर्ग-भेदरहित समाज का निर्माण तभी सम्भव है, जब व्यक्ति का संस्कार होगा, उसका चारित्रिक उत्कर्ष होगा और ऐसा होना सरल नहीं है। मनुष्य के लिये अपनी स्वार्थमयी क्षुद्र प्रकृति का अतिक्रमण सहज नहीं है। केवल किसी बृहत्तर मूल्य में आस्था ही यह चमत्कार कर सकती है, इसलिये तुलसी ने राम की स्थापना एक आदर्श, एक बृहत्तर जीवनमूल्य के रूप में की और उसकी भक्ति का विधान किया। इस प्रकार एक लोकोत्तर जीवनमूल्य व्यावहारिक जगत के क्रियाकलाप के स्थूल स्तर पर व्यक्त हो सामान्य व्यक्ति के लिये भी ग्राह्य हो सका।

तुलसी उस परब्रह्म के उपासक हैं जो केवल अपने चिदानन्द रूप में ही रमण नहीं करता, अपितु प्रेम के आग्रह पर प्रत्यक्ष होकर, लोकरंजन और लोकरक्षण के लिये 'देह' भी धारण करता है। तुलसी के राम का सबसे बड़ा आकर्षण उनकी 'मनुजता' है। तुलसी यह अनुभव करते हैं कि व्यक्ति किसी आदर्श को तब तक नहीं अपना सकता, जब तक कि उसके साथ उसका हृदय-संवाद न हो, इसलिये अपने काव्य में उन्होंने राम का जो रूप प्रस्तुत किया है वह सामान्य व्यक्ति के मनोविज्ञान और रागात्मक वृत्तियों के सर्वथा अनुरूप है। सामान्य व्यक्ति भावना के स्तर पर उनसे तादात्म्य स्थापित कर पाता है; वे उसे आदरणीय लगते हैं, प्रिय लगते हैं, 'अपने' लगते हैं। तुलसी ने राम के चरित्र के द्वारा जीवन के विविध सम्बन्धों के अनुकरणीय आदर्श रखे। मनुष्य के व्यावहारिक सम्बन्धों का स्वरूप कैसा हो कि परिवार और समाज में सद्भाव और सौमनस्य का विस्तार हो – इस शीलाचार का शिक्षण ही तुलसी के कर्त्तव्यबोध का सबसे बड़ा दायित्व है।

तुलसी के सामाजिक चिन्तन में आदर्शबोध का बड़ा महत्त्व है। तत्कालीन नैतिकताविहीन, आदर्शच्युत, खण्डित समाज के संस्कार के लिये कैसे नायक की आवश्यकता है – इस विषय में उनकी दृष्टि बहुत स्पष्ट थी। उन्होंने राम के चरित्र की जो परिकल्पना की, वह बहुत कुछ युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप थी। उन्होंने राम के चरित्र में तीन गुणों को विशेषरूप से उभारा – शील, सौन्दर्य और शौर्य। राम की करुणा – उनके शील, सौन्दर्य और शौर्य तीनों का ही अंग है। शील के द्वारा उन्होंने बिखरते समाज के समक्ष जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यवहार का आदर्श रखा; सौन्दर्य के द्वारा व्यक्ति के थके मन-प्राण को परितृप्त किया और शौर्य से एक कर्महीन पराजित जाति को संघर्ष की प्रेरणा और रक्षा का आश्वासन दिया। मध्यकाल के दो सन्तों – समर्थ रामदास और गोस्वामी तुलसीदास ने राम के 'शौर्यधर शील, पर विशेष बल दिया क्योंकि वे समाज की अन्तश्चेतना के गठन में राम के शौर्य की सार्थक भूमिका देखते हैं। सौम्य शीलाचार तटस्थ और उपदेशात्मक है, जबकि शौर्यधर शील सक्रिय और गतिशील है।

तुलसी अद्भुत अन्तर्दृष्टि का परिचय देते हुए राम के मुख से शीलाचार और आध्यात्मिक मूल्यों का उपदेश दिलाने के लिये जो अवसर चुनते हैं, वह रणभूमि है, क्योंकि यह उपदेश प्रकारान्तर से अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ते एक संघर्षरत समाज के लिये है। राम-रावण युद्ध में जब राम नंगे पैर, बिना रथ और कवच के युद्ध करने खड़े होते हैं, तो वे अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध साधनहीन पर आत्मविश्वास-पूर्ण संघर्ष के प्रतीक बन जाते हैं। मानस का यह प्रसंग सिद्ध करता है कि वीरता शरीर नहीं, मन का धर्म है –

नाथ न रथ नहिं तन पदत्राना।
केहि विधि जितब वीर बलवाना।।
सुनहु सखा कह कृपानिधाना।
जेंहि जय होइ सो स्यन्दन आना।।
सौरज धीरज तेहि रथ चाका।
सत्य सील दृढ ध्वजा पताका।।
बल विवेक दम परहित घोरे।
छमा कृपा समता रजु जोरे।।
ईस भजनु सारथी सुजाना।
बिरति चर्म संतोष कृपाना।।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचण्डा।
वर बिग्यान कठिन कोदण्डा।। ... आदि।

इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वय – यह उपदेश अपने स्वरूप में सार्वकालिक और सार्वजनीन है। समाज और व्यक्ति के निर्माण और परिष्कार के प्रति प्रतिबद्ध तुलसी का आदर्शबोध इतना प्रखर है कि वे वाल्मीकि रामायण के उन सभी अंशों को हटा देते हैं, जिनका समाज की मानसिकता पर अवांछित प्रभाव पड़ सकता है। वनवास के समय कौशल्या के कथन, सुमंत्र को विदा करते समय लक्ष्मण की कटूक्तियाँ, रावणविजय के अनन्तर राम और सीता का परस्पर वार्तालाप – कुछ ऐसा है कि उनके चरित्रों की उदात्तता लांछित होती है। तुलसीदास ने बड़ी कुशलता से इन क्षीण और दुर्बल अंशों को हटाया और उनके स्थान पर संस्कृत काव्यों और पुराणों के प्रामाणिक सन्दर्भों को जोड़ा। इस प्रकार इन चरित्रों को स्वाभाविकता और महनीयता की समन्वित भूमि पर इस तरह स्थापित किया कि वे समाज के लिये अनुकरणीय बन गये।

लोकहित के सम्पादन के लिये तुलसी ने जिन दो तत्त्वों की प्रतिष्ठा की, वे हैं समन्वय और मर्यादा। वे दो किनारे हैं जिनके बीच समाज-सरिता बहे, तो लोगों का अधिकाधिक कल्याण हो सकता है। तुलसी के मानस में जिस समन्वयवादिता के दर्शन होते हैं, वह वैचारिक और व्यावहारिक विषमताओं का पारस्परिक संघर्ष दूर करती है। इसी प्रकार मर्यादा संयमित आचरण की वह शैली है, जो सभी सम्बन्धों को स्निग्ध और सद्भावपूर्ण बनाती है। महाकवि तुलसी रामचरित-मानस के माध्यम से एक ऐसे समाज की रचना करना चाहते हैं, जिसमें वर्ग-संघर्ष नहीं है; सब एक दूसरे के पूरक हैं और सब मिलकर मानव के कल्याण की भूमिका प्रस्तुत करते हैं। तुलसी के 'रामराज्य' का भी यही अर्थ है। व्यवहार और अध्यात्म, लोक और वेद, व्यक्ति और समाज, नगर और वन; तथा राजा और प्रजा में समन्वय स्थापित कर तुलसी ने जिस आदर्श की परिकल्पना की है, वही 'रामराज्य' है। सृष्टि नानारूपात्मक है, विविधता सृष्टि का स्वभाव है, इसलिये वर्गभेदरहित समाज एक धारणा मात्र है। समाज में वैषम्य तो रहेगा ही, किन्तु यह वैषम्य मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति में बाधक न हो, यही 'रामराज्य' का उद्देश्य है। 'सब सन प्रीति करहिं सब कोई, राम प्रभाउ विषमता खोई' – यह राम का ही स्नेह-सौमनस्य है, जो सर्वत्र व्याप्त है।

तुलसी के राम नागर और वनसंस्कृति के बीच एक सेतु हैं; वे समाज के प्रत्येक सदस्य के साथ स्नेहसूत्र में बँधे हैं। केवल मानस ही नहीं, तुलसी के सम्पूर्ण साहित्य में 'सामान्य जन' की यह उपस्थिति, राम की शाश्वत कथा में गुँथा हुआ यह लोकाचार, उनकी मानवमात्र के प्रति निष्ठा को रेखांकित करता है। राम की कथा केवल महलों में घटित नहीं होती, महलों से तो वह निर्वासित हो जाती है। वह गंगा के तट पर, गाँवों की अमराई में, वन की पगडंडियों पर और दण्डकारण्य के घने अन्धकार में पोषित होती है; युद्ध की भीषणता में 'परवान' चढ़ती है और जन-जन के लिये मंगलकारी 'रामराज्य' में पर्यवसित होती है। निषाद और केवट, ग्रामीणजन और ग्रामवधुएँ, कोल-किरात, वनवासी, वानर-भालु और जटायु रामकथा के उतने ही महत्त्वपूर्ण अंग हैं, जितने स्वयं राम। तुलसी ने जो रामकथा लिखी है, उसमें नगर की अपेक्षा तपोवन, वन और ग्रामांचल कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। राम मानो मूर्तिमान 'प्रीति' हैं, जो समाज के हर वर्ग से जुड़ जाते हैं, राजा के रूप में नहीं, व्यक्ति के रूप में।

इस प्रकार तुलसी की सामाजिक सद्भावना बिना किसी भेद-भाव के समाज के समक्ष प्रेम और सद्भाव के सूत्र प्रस्तुत करती है। तुलसी ने अपने समय के समाज के समक्ष नैतिकता, मर्यादा और आत्मानुशासन का जो आदर्श रखा, वह उसकी आन्तरिक संरचना के पुनर्गठन के लिये आवश्यक था। तुलसी की सामाजिक दृष्टि समाज को व्यवस्थाओं का समीकरण मात्र नहीं मानती, उसका मूल स्वरूप है – सामूहिक चेतना, जो व्यक्तिगत चेतना भावों और विचारों की समष्टि है। इसलिये धर्म, अध्यात्म और भक्ति को बहिष्कृत करके तुलसी की सामाजिक दृष्टि का आकलन नहीं हो सकता। धर्म किसी मत या सम्प्रदाय में

सीमित नहीं है, वह तो मानव के जीवन को दिशा और अर्थ देने वाले आचारगत मूल्यों का समाहार है। अध्यात्म मनुष्य को पशु से भिन्न स्तर पर खड़ा करता है, जहाँ वह शरीर और इन्द्रियों की विषयगत सीमाओं से मुक्त होकर, बुद्धि की द्वन्द्वात्मक वृत्ति से ऊपर उठकर, अपनी आत्मा की 'विरुजं विशुद्धं' शुद्ध चिन्मय भूमि पर स्थित हो प्राणिमात्र की, अस्तित्व मात्र की एकरूपता और एकता का अनुभव करता है; और भक्ति वह तरल भावबोध है, जो हृदय को वह क्षमता देती है, वह नरमाई देती है कि वह अपने 'स्व' का अतिक्रमण कर 'पर' के साथ एकात्म हो सके; 'यदस्तु हृदयं तव, तदस्तु हृदयं मम' के रसबोध में डूब सके। इस धर्म अध्यात्म और भक्ति की आधारभूमि है 'आस्तिकता', एक 'हाँ-धर्मी' मनोवृत्ति, एक विश्वास, एक आस्था जो तुलसी के चिन्तन में 'राम' बनकर व्यक्त होता है। इस 'रामत्व' का सम्बल ले तुलसी अपने जाति-वर्ग-निरपेक्ष आत्मिक मानववाद का 'रामराज्य' स्थापित करते हैं।

तुलसी के जो आलोचक उन्हें वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थक या ब्राह्मणों का पक्षपाती समझते हैं, वे उनके साहित्य, विशेष रूप से मानस के मुख्य प्रतिपाद्य को दृष्टिच्युत कर देने के कारण ऐसा करते हैं। मानस का मूल प्रतिपाद्य या 'थीसिस' कहीं और पड़ी रह जाती है और उनका विरोध किया जाता है। उन प्रासंगिक बातों के लिये जिनका उनके मुख्य कथ्य से अंगागि-भाव का भी सम्बन्ध नहीं है। मानस न तो क्षत्रियधर्म का प्रतिपादन करता है और न ब्राह्मणधर्म का, उसका प्रतिपाद्य है भक्ति और जातिधर्म-निरपेक्ष अस्तिधर्मी मानवतावाद। जहाँ तक ब्राह्मणों के प्रति पक्षपात का प्रश्न है, यह सर्वथा निराधार है। कम लोगों ने इस बात पर ध्यान दिया होगा कि तुलसी वाङ्मय में 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग केवल चार बार हुआ है, और मानस में तो केवल एक बार, भरत के ननिहाल से लौट कर अयोध्या में प्रवेश के समय। तुलसी प्राय: 'द्विज' और 'विप्र' शब्दों का प्रयोग करते हैं, जो गुणवाचक या वैशिष्ट्य-बोधक शब्द हैं, वर्णवाचक नहीं। तुलसी वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक अवश्य हैं, और यह उनकी दृष्टि है, उनका संस्कार है। वर्णाश्रम व्यवस्था एक वैज्ञानिक व्यवस्था थी, जो इस 'भिन्नरुचि' समाज के सदस्यों की नैसर्गिक प्रवृत्तियों और सामर्थ्य पर आधारित थी। इसके अन्तर्गत आश्रम-व्यवस्था मनुष्य की आयु और बदलती हुई मनस्थितियों का विकास-क्रम था जो व्यक्तिगत और सामूहिक स्तर पर उचित समय पर उचित कर्त्तव्य का सिद्धान्त था। यह सनातन धर्म का सोचा-समझा सामाजिक दर्शन था, जो चार पुरुषार्थों की प्राप्ति में सहायक था। आज की परिस्थितियों में यह भले ही ग्राह्य न हो, किन्तु इसका मूल चिन्तन बड़ा वैज्ञानिक और उपादेय था। यह अलग बात है कि इससे विकसित होनेवाली जाति-व्यवस्था ने इसके यश को उसी भाँति मलीन किया है, जिस प्रकार अयोग्य पुत्र पूर्वजों की कीर्ति कलंकित करता है। यह भी सत्य है कि वर्णाश्रम धर्म के कुछ सन्दर्भ जो सोलहवीं शती में भले ही प्रासंगिक रहे हों, आज त्याज्य हो गये हैं। तुलसी की श्रद्धा वर्णाश्रम धर्म पर अवश्य है, किन्तु यह मानस का मुख्य प्रतिपाद्य नहीं है, यह तो उसका गौण और प्रासंगिक सन्दर्भ मात्र है। गौण के लिये मुख्य को तिरस्कृत नहीं किया जा सकता।

सब मम प्रिय सब मम उपजाए।
सबमें अधिक मनुज मोंहि भाए।।
तिन मंह द्विज, द्विज मंह श्रुतिधारी।
तिन मंह निगम धरम अनुसारी।।
तिन मंह प्रिय विरक्त मुनि ग्यानी।
ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी।।
तिन्हते पुनि मोंहि प्रिय निज दासा।
जेहि गति मोरि न दूसर आसा।।

× × × ×

भगतिहीन विरंचि किन होई।
सम जीवहु सब प्रिय मोंहि सोई।
भगतिवन्त अति नीचउ प्राणी।
मोंहि प्रानप्रिय असि मम बानी।।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि गोसाईं जी वर्णाश्रम धर्म पर आस्था रखते हैं, किन्तु उससे भी ऊपर चरम स्थान देते हैं, जाति-वर्ण-धर्म-निरपेक्ष आस्तिक मानवतावाद को।

वस्तुत: मानस ही क्या समग्र वैष्णव धर्म की 'अपव्याख्या' कुछ इस प्रकार हुई है कि उसका 'मूल स्वर' विवादी मूर्च्छनाओं के बीच खो गया है। 'पूजिय विप्र रूप गुण हीना' या 'ढोल गंवार सूद्र पशु नारी' जैसे गौण, प्रासंगिक और चरित्रगत उक्तियों के मंच-प्रति-मंच गायन से मानस और तुलसी का सम्पूर्ण 'साध्य' लांछित हो गया। 'रामत्व' का शीलगत मर्म केवल पुस्तकों का विवेच्य विषय रह गया, जनमानस में उसकी पैठ कराने का कोई उपाय नहीं रह गया।

भारतीय संस्कृति समष्टिप्रधान संस्कृति है, जिसमें विश्व-कल्याण या लोकमंगल व्यक्ति के निजी सुख और स्वार्थ से अधिक महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति के जीवन की सार्थकता इसी में है कि उसके द्वारा प्राणिमात्र का अधिक-से-अधिक कल्याण हो; 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श व्यक्ति और विश्व के बीच इसी सद्भाव और आत्मीयता को रेखांकित करता है। यह लोकमंगल ही तुलसी के काव्य की प्रेरणा है; और इस प्रेरणा को रूपायित करने का माध्यम है – रामकथा। ❑

स्वामी शुद्धानन्द (३)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

स्वामी विवेकानन्द जी ने एक दिन शुद्धानन्द आदि सभी शिष्यों को मन्दिर में ले जाकर अपने पास बैठाया। उसके बाद उन्होंने उन लोगों को साधन-भजन के विषय में बहुत-से उपदेश दिये और स्वयं ही आसन, प्राणायाम, ध्यान, जप, प्रार्थना आदि की शिक्षा दी। तदुपरान्त स्वामीजी के आदेश पर तुरीयानन्द जी ने इन समस्त नवीन साधकों से अनेक दिनों तक साधना-अनुष्ठान कराया था। "अब ऐसा चिन्तन करो, उसके बाद ऐसा करो" – कहते हुए तुरीयानन्द जी ने स्वयं अनुष्ठानपूर्वक स्वामीजी द्वारा कथित साधना-प्रणाली का मठ के साधु-ब्रह्मचारियों से अभ्यास कराया था।

एक दिन मठ के बड़े हॉल में स्वामीजी को घेरकर बहुत-से साधु तथा भक्त बैठे हुए थे। विविध विषयों पर चर्चा चल रही थी। सहसा स्वामीजी ने शुद्धानन्द को 'आत्मतत्त्व' पर कुछ बोलने का आदेश दिया। नवीन ब्रह्मचारी गुरुदेव का आदेश शिरोधार्य करके उठ खड़े हुए और बृहदारण्य उपनिषद् से याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद के आधार पर 'आत्मतत्त्व' विषयक करीब आधे घण्टे का भाषण दिया। व्याख्यान सुनने के बाद उन्होंने शिष्य को खूब प्रोत्साहन दिया था। श्रीगुरु के उस दिन के प्रोत्साहन-वाक्य का स्मरण करते हुए ही बाद में शुद्धानन्द जी ने आवेगपूर्ण भाषा में लिखा था – "कहाँ मिलेंगे ऐसे व्यक्ति, जो अपने ही शिष्यों को लिख सकें – 'I want each one of my children to be hundred times greater than I could ever be. Everyone of you must be a giant – *must*, that is my word.' – ('मैं कभी जितना बड़ा हो सकता हूँ, मैं चाहता हूँ कि तुम लोगों में से प्रत्येक उसकी अपेक्षा सौ-गुना बड़ा हो। तुममें से प्रत्येक को एक-एक आध्यात्मिक दिग्गज बनना पड़ेगा – बनना ही पड़ेगा, नहीं बनने से काम नहीं चलेगा।')"

इन्हीं दिनों स्वामीजी द्वारा इंग्लैंड में दिये गये 'ज्ञानयोग' विषयक व्याख्यानों को श्रीयुत स्टर्डी लंदन से छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित कर रहे थे। मठ के सभी लोग विशेष आग्रह के साथ उन उद्दीपनापूर्ण व्याख्यानों को पढ़ा करते थे। बूढ़े गोपाल महाराज (अद्वैतानन्दजी) अँग्रेजी भाषा अच्छी तरह नहीं जानते थे, परन्तु उनकी यह जानने की विशेष इच्छा थी कि 'नरेन' ने साहब लोगों को वेदान्त के बारे में जो कुछ कहा है, उसे सुनें। अत: नवीन ब्रह्मचारीगण उन व्याख्यानों को पढ़कर, उनका बँगला अनुवाद उन्हें सुनाया करते थे। इस उद्यम पर प्रसन्न होकर एक दिन स्वामी प्रेमानन्द नये ब्रह्मचारियों से बोले, "स्वामीजी के इन व्याख्यानों का तुम लोग बँगला में अनुवाद कर डालो न!" सभी ब्रह्मचारी इससे खूब उत्साहित होकर अपने-अपने पसन्द के व्याख्यान लेकर उनका अनुवाद करने लगे। स्वामीजी के दार्जिलिंग से बेलूड़ मठ लौट आने के बाद एक दिन स्वामी प्रेमानन्द उनसे बोले, "इन लड़कों ने तुम्हारे व्याख्यानों का अनुवाद आरम्भ कर दिया है।" इसके बाद वे ब्रह्मचारियों को बुलाकर बोले, "तुम लोगों में से कौन क्या अनुवाद कर रहा है, सब स्वामीजी को सुनाओ।" इससे सब लोगों ने साहस पाकर अपना-अपना अनुवाद स्वामीजी को थोड़ा-थोड़ा सुनाया। स्वामीजी ने खूब प्रसन्न होकर वह सब सुना। एक दिन शुद्धानन्द अकेले ही स्वामीजी के पास बैठे थे। स्वामीजी सहसा बोल उठे – "राजयोग का अनुवाद कर न!"

गुरु के आदेश से शिष्य के भीतर एक नयी शक्ति का संचार हुआ। उन्होंने तत्काल इस अनुवाद-कार्य में मनोनियोग किया। इस प्रसंग में यह बता देना उचित होगा कि बंगाल में उन दिनों राजयोग का जरा भी प्रचार न था – स्वामीजी के मुख से प्राय: ही इस विषय में आक्षेप सुनने को मिलता था। उनकी बड़ी इच्छा थी कि बंगाल में सच्चे राजयोग का प्रचार हो। इसीलिये लगता है कि स्वामीजी ने शुद्धानन्द को जो यह आदेश दिया, इसके पीछे उनका कोई गम्भीर तात्पर्य निहित था। शुद्धानन्द ने स्वयं भी परवर्ती काल में इस प्रसंग में लिखा, "मेरे जैसे अनुपयुक्त व्यक्ति को स्वामीजी ने यह आदेश क्यों दिया? मैं इसके बहुत पहले से ही राजयोग का अभ्यास करने की चेष्टा किया करता था।... राजयोग का अनुवाद करने से... मेरी आध्यात्मिक उन्नति में सहायता मिलेगी, क्या इसी कारण उन्होंने मुझे इस कार्य में लगाया? या फिर बंगाल में यथार्थ राजयोग की चर्चा का अभाव देखकर, आम जनता के बीच इस योग के यथार्थ मर्म का प्रचार करने के लिये ही उनका यह विशेष आग्रह था? अस्तु। स्वामीजी का आदेश पाकर अपनी अनुपयुक्तता आदि के बारे में न सोच, मैं तत्काल उसके अनुवाद में लग गया।" शुद्धानन्द ने इस अनुवाद-कार्य में अति अद्भुत निष्ठा तथा दक्षता का परिचय दिया था। क्रमश: उन्होंने

स्वामीजी के कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा अन्य अधिकांश ग्रन्थों का अनुवाद किया था। अपने गुरुदेव के भाव, भाषा तथा विचारों से वे इतने प्रभावित थे कि उनके अनुवाद भी स्वामीजी की मूल रचनाएँ ही प्रतीत होती हैं। स्वामीजी द्वारा रचित – 'The Song of the Sannyasin' के बँगला काव्यानुवाद 'संन्यासीर गीति' में उन्होंने अपनी अद्भुत विदग्धता का परिचय दिया है। बँगला साहित्य के इतिहास में सचमुच ही यह अतुल्य है। इसीलिये श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावप्रचार के इतिहास में शुद्धानन्दजी का नाम चिर-स्मरणीय रहेगा। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि शुद्धानन्दजी ने ही बंगाल के घर-घर में स्वामी विवेकानन्द का सन्देश पहुँचा दिया है।

शुद्धानन्द अद्भुत स्मृतिधर थे। स्वामीजी की 'भारतीय-व्याख्यान' पुस्तक में 'गीतातत्त्व' शीर्षक के साथ जो एक सुन्दर लेख संकलित हुआ है, वह शुद्धानन्द की उसी क्षमता का परिचायक है। मठ उन दिनों बेलूड़ में था। एक दिन सभी समवेत लोगों के समक्ष स्वामीजी ने गीता के विषय में बहुत-सी खूब उद्दीपनामय बातें कही थीं। उस दिन सबने मंत्रमुग्ध होकर स्वामीजी की बातें सुनी थी। स्वामी प्रेमानन्द के आग्रह पर तीन-चार दिन बाद शुद्धानन्द ने हूबहू स्वामीजी की उक्तियाँ ही लिपिबद्ध कीं। यही वह 'गीतातत्त्व' है। लगता है कि शुद्धानन्द के स्मृति-पटल पर स्वामीजी का प्रत्येक वाक्य स्थायी रूप से अंकित हो जाता था। और केवल उनकी भाषा ही नहीं, बल्कि विशेष प्रसंगों में उनके चेहरे पर जो भाव प्रकट होते, वे भी शुद्धानन्द के मानस-पटल पर चिर काल के लिये चित्रित हो जाते थे। बाद में इन्हीं सब अलौकिक चित्रों का ध्यान करते हुए वे भावविभोर हो जाया करते। गीता पर बोलते हुए स्वामीजी की उस दिन की मूर्ति उनके मनश्चक्षुओं के समक्ष इस प्रकार अभिव्यक्त हो उठती कि उसे उन्हीं की भाषा के अतिरिक्त किन्हीं अन्य शब्दों में प्रकट नहीं किया जा सकता। उस समय की वह स्मृति शुद्धानन्द की ही उद्दीपनामय भाषा में इस प्रकार है –

"हे पाठकगण ! उन महापुरुष का जो चित्र मैं अब भी अपने नेत्रों के समक्ष देख रहा हूँ, मेरे इस क्षुद्र प्रयास से वह आपके मनश्चक्षुओं के समक्ष भी उद्भासित हो। उनकी बातें याद करके आज भी मेरे मनश्चक्षुओं के समक्ष उन्हीं महाविद्वान्, महातेजस्वी, महाप्रेमी का चित्र उभर आता है। आप लोग भी एक बार देश-काल के व्यवधान को लाँघकर मेरे साथ हमारे स्वामीजी को देखने का प्रयास करें। स्वामीजी कहने लगे, 'जब सबको ब्रह्म-दृष्टि से देखना है, तो महापापी को भी घृणा-दृष्टि से देखना उचित न होगा।' 'महापापी से भी घृणा मत करो' – यह कहते-कहते स्वामीजी के चेहरे पर जो भावान्तर आया, वह चित्र आज भी मेरे मानस-पटल पर यथावत् अंकित है – मानो उनके श्रीमुख से प्रेम की शत धाराएँ बह निकलीं। उनका श्रीमुख प्रेम से दीप्त हो उठा – उसमें कठोरता का लेशमात्र भी न था।"

शुद्धानन्द को जीवन में अपने ब्रह्मविद् आचार्य से शास्त्रों के अध्ययन का सुयोग खूब मिला था। इसी कारण शास्त्रों का मर्म उनके लिये श्वास-प्रश्वास के समान सहज हो गया था। एक दिन ब्रह्मसूत्र पढ़ाते समय स्वामीजी कहने लगे, "पहले भाष्य को न पढ़कर, स्वतंत्र रूप से सभी सूत्रों का अर्थ समझने की चेष्टा करो।" स्वामीजी प्रत्येक शब्द का अर्थ तथा भावार्थ बताकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते; वे भाषा के ठीक-ठीक उच्चारण पर भी विशेष जोर देते। एक बार उन्होंने शुद्धानन्द को इस विषय में कहा था, "हम लोग संस्कृत भाषा का उच्चारण ठीक-ठीक नहीं करते। इसका उच्चारण तो इतना सरल है कि थोड़ी चेष्टा करने से ही सब लोग संस्कृत का शुद्ध उच्चारण कर सकते हैं। हम लोग बचपन से ही भिन्न प्रकार से उच्चारण करने के आदी हो गये हैं, इसीलिये इस प्रकार का उच्चारण अब हमें इतना विचित्र तथा कठिन लगता है। हम लोग 'आत्मा' शब्द को (बँगला में) 'आत्ता' क्यों करते हैं? महर्षि पतंजलि अपने महाभाष्य में कहते हैं, 'अपशब्द उच्चारण करनेवाला म्लेच्छ है।' अत: पतंजलि के मतानुसार हम सभी म्लेच्छ ही हो गये हैं।"

स्वामीजी कई बार शुद्धानन्द को संस्कृत में भी पत्र लिखा करते थे। आचार्य द्वारा निर्दिष्ट पद्धति से अध्ययन करने के कारण शुद्धानन्द के शास्त्र-ज्ञान में किसी प्रकार के एकांगीपने का दोष नहीं प्रवेश कर सका था। स्वामीजी की भावधारा के आधार पर उन्होंने स्वयं ब्रह्मसूत्र का एक अलग भाष्य लिखा था। यदि वह प्रकाशित होता, तो नि:सन्देह शास्त्र-जिज्ञासुओं के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता। ब्रह्मसूत्र पढ़ाते समय स्वामीजी ने शुद्धानन्द आदि शिष्यों से कहा था, "कौन कहता है कि ये सूत्र केवल अद्वैत मत के पोषक हैं? शंकर अद्वैतवादी थे, इसलिये उन्होंने सभी सूत्रों की केवल अद्वैतपरक व्याख्या करने की चेष्टा की है, परन्तु तुम लोग सूत्र का अक्षरार्थ करने का प्रयास करना – व्यास के यथार्थ अभिप्राय को समझने की कोशिश करना। उदाहरण के लिये यह सूत्र देखो – **अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति** (१/१/१९) – (वे अर्थात् वेद इस अर्थात् जीवात्मा के साथ उस अर्थात् परमात्मा की पूर्ण एकात्मता की शिक्षा देते हैं)। मुझे तो इसकी यही व्याख्या ठीक लगती है कि इसमें भगवान वेदव्यास द्वारा अद्वैत और विशिष्टाद्वैत – दोनों वाद ही सूचित हुए हैं।"

❖ **(क्रमश:)** ❖

कर्मयोग – एक चिन्तन (२७)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

भगवान कहते हैं कि अनुसूयन्त: होना चाहिये। जगत जननी माँ सारदा प्रार्थना कर रही हैं – हे प्रभु ऐसा करो कि मैं किसी के भी दोष न देखूँ। कितनी बड़ी बात है कि जगत जननी स्वयं प्रार्थना कर रही हैं। किसी के दोष देखना और आध्यात्मिक जीवन भी बिताना, यह पेट्रोल के पात्र में आग रखने जैसा होगा। इससे तो रखने वाला जल मरेगा।

दूसरा विशेषण है श्रद्धावन्त: – श्रद्धा होनी चाहिये। किस पर? शास्त्रग्रंथों पर, जिस व्यक्ति ने आपको बताया उन पर, श्रद्धा होनी चाहिये। भगवान स्वयं कहते हैं – श्रद्धावान लभते ज्ञानम्। ये ज्ञान हमको कैसे मिलेगा? जब हम अपने जीवन में प्रयत्नपूर्वक, बुद्धि-विवेक से विचार और ईश्वर से प्रार्थना करें – प्रभु, हमको ऐसी बुद्धि दें कि हम किसी के दोष न देखें, हमको ऐसी श्रद्धा दो कि किसी के दोष हम न देखें। भगवान कहते हैं, वे लोग भी जिन्होंने प्रार्थना नहीं की है, किसी शास्त्रग्रंथ को नहीं पढ़े हैं, यदि मेरे इस ३० वें श्लोक में बताये हुए नियम का पालन करेंगे, तो वे हमेशा के लिये कर्मों से मुक्त हो जायेंगे। इतनी सरल बात भगवान ने हमें बताई है।

आध्यात्मिक जीवन में 'सुनने' की अपेक्षा 'करना' अधिक आवश्यक है। हम प्रार्थना करें, विचार करें और निश्चय करें कि हम दूसरों के दोष नहीं देखेंगे। हम गीता, रामायण, महाभारत, भागवत आदि ग्रंथों पर, संतों पर श्रद्धा रखेंगे। ये सब करने की बात है।

अब भगवान उनके उपदेशों का पालन नहीं करने वालों का दुष्परिणाम बता रहे हैं –

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ।। ३/३२

– जो लोग दोषारोपण करते हुये मेरे उपदेशों के अनुसार नहीं चलते हैं, उन मूर्खों को तू सम्पूर्ण ज्ञानों में मोहित और नष्ट हुआ ही समझो।

जो व्यक्ति मेरे उपदेशों का पालन नहीं करते हैं और दूसरों को दोष देते हैं, वे लोग तामसिक हैं। सभी ज्ञानों में वह मूढ़ है। जो व्यक्ति ईश्वर में विश्वास नहीं करता, दूसरों की निन्दा करता है, भगवान या महापुरुषों की निन्दा करता है, उनमें दोष देखता है, उसका अनुसरण कभी भी नहीं करना चाहिये। वह बेहोश है, मूर्ख है। हममें से अधिकांश लोग बेहोश रहते हैं। हम खाते-पीते सब कुछ करते हैं, किन्तु अधिकांश जीवन हमारा बेहोशी में ही चला जाता है। कितने लोग हैं, जो सतत होश में हैं? सभी संत, अवतार-पुरुष सब होश में रहते हैं, ये चेतस: हैं और हम लोग अचेतस: हैं। हमारा अवचेतन मन, हमसे ये सब बलपूर्वक करा लेता है। इसलिये हमें उनकी ओर ध्यान नहीं देकर उन दुर्गुणों से उदासीन होना चाहिये। जितना संभव हो इससे बचना चाहिये। किसी ने क्या किया इसकी चर्चा करना छूत के रोग जैसा है, हमें इससे बचना चाहिये।

यहाँ आने के पहले मैं अमरकंटक गया था। वहाँ आध्यात्मिक शिविर था। कुछ लोग आये थे। उनकी सब खान-पान की व्यवस्था अच्छी कर दी गयी थी। अब देखें लोग कैसे अचेतस: हो जाते हैं। उनलोगों ने सुबह पेटभर खा लिया, दोपहर को खाना नहीं खाया। कमरे में बैठे रहे। क्या हो गया? पेट खराब हो गया है, इसलिये खाना नहीं खायेंगे। अब तक चेतना थी। किन्तु उनलोगों ने बाद में सुना कि भोजन में पकौड़े और कढ़ी बनी है, तो भोजन करने चल दिये। यहाँ वे अचेतस: हो गये। भोजन करके कहीं घुमने निकले, तो रास्ते में एक होटल देखा। वहाँ बहुत बड़ी कड़ाही में गुलाबजामुन बन रहे थे। तो इच्छा हुई देखूँ, ये गुलाबजामुन कैसा है और खा लिया। यह बेहोशी का लक्षण है। मनुष्य को हमेशा होश में रहना चाहिये। अगर बेहोश रहेंगे, तो संसार के किसी भी सुख का पूर्ण आस्वाद नहीं ले पायेंगे।

यदि विचार करके देखें, तो आपके-हमारे जीवन के अधिकांश काम बेहोशी में होते हैं। जब तक हमारे काम बेहोशी में, असावधानी में होते रहेंगे, तब तक कोटि जन्म में भी हमारे जीवन में आध्यात्मिक उन्नति की आशा नहीं है। यदि हम सावधान रहें और भगवान से प्रार्थना करें, तो प्रभु कृपा से इसी जन्म में हमारी आध्यात्मिक उन्नति हो जायेगी। जैसे भगवान गौतम बुद्ध को होश आया और वे सिद्धार्थ से गौतम बुद्ध हो गये। भगवान रामकृष्ण के शिष्य भोगी गिरीशचन्द्र घोष, भक्त गिरीश घोष हो गये।

प्रवचन - ४

गीता का साक्षात् सम्बन्ध हमारे मानसिक जीवन से है। वह क्या है? मनुष्य इसी जीवन में इसकी सार्थकता का बोध करे। यह अनुभव कर ले कि जीवन निरर्थक नहीं है। जीवन की संध्या में विशेषकर क्या खोया और क्या पाया, इसका जब हम हिसाब लगाकर देखते हैं, तो पाते हैं कि सम्पत्ति, धन, मान, पत्नी, पति, पुत्र, सांसारिक सारी सुविधायें हमको मिल तो गयीं, किन्तु जीवन में सार्थकता का बोध नहीं

होता। हम आकाश को भरने का प्रयत्न कर रहे हैं। आपका बड़ा बंगला है, सामने जगह खाली है, तो जितना आपकी आँखों को दिखता है, उतना भरने का प्रयास करते हैं। मान लिया कि आपने ६ फिट, ५० फिट, जगह भर दी, फिर भी आकाश तो खाली ही दिखता है। क्या आप उसे भर सकते हैं? आपके पास साधन और सुविधा है, तो आपने हजारों टन पत्थर मँगवा कर आकाश को भरने के लिये आंगन में पहाड़ बनवा दिया। किन्तु क्या आकाश में कोई अन्तर आया? नहीं आया। हम आकाश को नहीं भर सकते। तुलनात्मक दृष्टि से देखें, तो हमारा मन आकाश के समान है। उसे हम पहाड़ और पत्थरों से भरना चाहते हैं। चाहे वह रूपये का पहाड़ हो या सोने-चाँदी का हो। यदि हम सोने-चाँदी-रूपये का हिमालय खड़ा कर दें, तो भी आकाश खाली का खाली ही रहेगा।

जीवन की सार्थकता तो तब है, जब मन भर जाय, मन पूर्ण तृप्त हो जाय। मन भरने की दो अवस्थाएं हैं। मान लीजिये आपने मुझे निमन्त्रण दिया। मेरी पसन्द की सब चीजें आपने बनाई हैं। आपने कहा कि महाराज आप गुजरात में आये हैं, तो श्रीखंड खाइये, आम्रखंड खाइये। आपने दोनों चीजें मेरे सामने लाकर रखा। उसके दो पक्ष हैं – श्रीखंड का मन से सम्बन्ध और श्रीखंड का तन से सम्बन्ध। अब यदि कोई व्यक्ति लोभी हो, तो वह श्रीखंड और आम्रखंड दोनों खाता है। और ये मेरी बेटियाँ, जो मेरे सामने बड़े-बड़े दो पात्रों में लेकर बैठी हैं, उन पात्रों में पाँच-पाँच किलो भरा हुआ है। ये कहती हैं, महाराज थोड़ा-सा और लीजिये। लेकिन हम कितना लेंगे? हमारी तो एक सीमा है। हम अधिक नहीं ले सकते। एक तृप्ति हुई कि हाँ भाई, पेट भर गया। कोई पूछा – कैसा था श्रीखंड़? हमने कह दिया – बहुत अच्छा था। तो और थोड़ा लीजिये। अब अपनी थूक अंदर लेने की जगह नहीं रही, गले तक आ गया, उब आ गई। अब नहीं ले सकते। जितना भी स्वादिष्ट भोजन क्यों न हो, एक समय उससे उब आती ही है। ऐसी उब केवल जिह्वा के साथ है, ऐसा नहीं है। इंद्रियों के साथ भी है।

कोई मित्र आपके घर आये। बहुत दिनों बाद भेंट हुई। बहुत आपस में प्रेम है और आप गले मिले। बहुत आनन्द हुआ। एक बार, दो बार गले मिले। ५-६ वर्ष बाद दोनों भाई मिले हैं। एक-दूसरे का चुम्बन भी लिया, फिर गले मिले। मान लीजिये, वहाँ मेरे जैसा मूर्ख रहे और कहे की भाई इतना आनन्द है, तो रस्सियाँ, ले आओ और इन दोनों को बाँध दो। चौबीस घंटे तुम मिलते रहो। सिर से पैर तक ऐसा बाँधो कि तिल रखने की भी जगह न रहे। तब क्या आपको आनन्द होगा? आप अपने से उत्तर दीजिए, किसी को बताने की जरूरत नहीं है। यदि ऐसा आलिंगन किसी देवता से भी करना हो, तो आप कहेंगे कि अब बहुत हो गया। कृपया आप अपना श्रीमुख उधर करें और हम हमारा श्रीमुख इधर करेंगे।

यह बात मैं इसलिये कह रहा हूँ, कि जीवनरूपी आकाश जो खाली है, उसे हम संसार की वस्तुओं से भरना चाहते हैं, इसलिये जीवन में सतत अभाव लगता है। जब हमारा जीवन भरेगा नहीं, तब हमको समझ में आयेगा और तब हम गीता को जीवन में स्वीकार करेंगे। जब तक गीता या अन्य शास्त्रों को छोड़कर अतिरिक्त विकल्प मन में रहेगा, तब तक ये हालत बनी रहेगी।

गीता का अध्ययन श्रद्धापूर्वक करें। श्रद्धा के साथ पूज्यबुद्धि आवश्यक है। विश्वास के साथ पूज्यबुद्धि आवश्यक नहीं है। मान लीजिये आप दुकान में कुछ सामान लेने के लिए गये और दुकान वाले को सौ रुपये का नोट दिया। उस दुकानदार को विश्वास है कि ये सौ रुपये का नोट नकली नहीं है। क्योंकि ये हमारे २० साल से ग्राहक हैं, बैंक में काम करते हैं, बड़ी नौकरी करते हैं, हमेशा सामान लेते हैं, हमें धोखा नहीं देंगे, यह सोचकर तुरन्त वह नोट लेकर, सामान दे देता है और पचास या तीस रुपये वापस कर देता है। आप उससे नोट लेकर चले आते हैं। उसको आप पर और आपको भी उस पर विश्वास है कि यह नोट सही है। इसमें श्रद्धा का कोई प्रश्न नहीं है, यह विश्वास है।

मान लीजिये आप किसी मंदिर में गये। वहाँ आपने पुजारी जी से कहा कि मैं भगवान को ५१ रू. चढ़ाना चाहता हूँ, मेरे पास सौ का नोट है, आप मुझे बाकी रूपये वापस दे दीजिए। पुजारी ने भी बाकी रूपये आपको वापस दे दिये। देवता के निमित्त आपने ५१ रू. चढ़ा दिये। तो देवता के प्रति आपके मन में पूज्य बुद्धि है और पुजारी के प्रति विश्वास है। श्रद्धा के साथ पूज्य बुद्धि बहुत आवश्यक है। गीता या कोई भी ग्रंथ जब हम आध्यात्मिक उन्नति के लिये पढ़ते हैं, तो उस शास्त्र के, उन महापुरुषों के प्रति, उनके वचनों के प्रति पूज्य बुद्धि होनी चाहिये। श्रद्धा सम्पूर्ण मानसिक समर्पण है। वहाँ तीलमात्र भी जीवन में अविश्वास का स्थान नहीं है। श्रद्धा का अर्थ है सम्पूर्ण समर्पण। ❖ (क्रमशः) ❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

स्वानुभूत्या स्वयं ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डितम् ।
संसिद्धः सम्मुखं[1] तिष्ठेन्-निर्विकल्पात्मनाऽऽत्मनि ।।४७७।।

अन्वय – स्वानुभूत्या स्वम् अखण्डितम् आत्मानम् स्वयम् ज्ञात्वा, संसिद्धः निर्विकल्प-आत्मना आत्मनि सम्मुखम् तिष्ठेत्।

अर्थ – अपनी स्वयं की अनुभूति के द्वारा ही, अपनी अखण्ड (सर्वव्यापी) आत्मा को अपना स्वरूप जानकर, अपने निर्विकल्प स्वरूप के द्वारा (अपनी साधना में) सिद्ध हुआ वह (महात्मा) अपने प्रत्यक्ष स्वरूप में स्थित रहता है।

वेदान्तसिद्धान्तनिरुक्तिरेषा
ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च ।
अखण्डरूपस्थितिरेव मोक्षो
ब्रह्माद्वितीये श्रुतयः प्रमाणम् ।।४७८।।

अन्वय – वेदान्त-सिद्धान्त-निरुक्तिः एषा जीवः च सकलं जगत् ब्रह्म एव। अखण्ड-रूप-स्थितिः एव मोक्षः। ब्रह्म-अद्वितीये श्रुतयः प्रमाणम्।

अर्थ – समस्त वेदान्तों (उपनिषदों) का यही सार-निष्कर्ष है कि समस्त जीव तथा जगत् ब्रह्म ही हैं। उस अखण्ड-रूप ब्रह्मात्म-स्वरूप में स्थिति को ही मोक्ष कहते हैं। ब्रह्म की अद्वितीयता (अद्वैत होने) में श्रुति के वाक्य ही प्रमाण हैं।

स्वानुभूति प्रकरण –

इति गुरुवचनाच्छ्रुतिप्रमाणा-
त्परमवगम्य सतत्त्वमात्मयुक्त्या ।
प्रशमितकरणः समाहितात्मा
क्वचिदचलाकृतिरात्मनिष्ठितोऽभूत् ।।४७९।।

अन्वय – इति प्रशमित-करणः समाहित-आत्मा (शिष्य) गुरु-वचनात् श्रुति-प्रमाणात् आत्म-युक्त्या क्वचित् स-तत्त्वम् परम् अवगम्य अचल-आकृतिः आत्मनिष्ठतः अभूत्।

अर्थ – शान्त इन्द्रियों तथा संयमित अन्तःकरण वाला वह शिष्य इस प्रकार गुरु के उपदेश, श्रुतियों के प्रमाण तथा अपनी युक्तियों के द्वारा, किसी एकान्त स्थान में एक शुभ मुहूर्त में अपने विशुद्ध स्वरूप की अनुभूति करके (पर्वत के समान) निश्चल आकृतिवाला होकर आत्मा में स्थित हो गया।

किञ्चित्कालं समाधाय परे ब्रह्मणि मानसम् ।
उत्थाय परमानन्दादिदं वचनमब्रवीत् ।।४८०।।

अन्वय – परे ब्रह्मणि किंचित् कालं मानसम् समाधाय परमानन्दात् उत्थाय इदं वचनं अब्रवीत्।

१. पाठभेद – सुसुखम्, ससुखम् या सन् सुखम् – परम सुखपूर्वक

अर्थ – कुछ काल तक मन को परब्रह्म में एकाग्र रखने के बाद व्युत्थित होकर वह परम आनन्द के साथ बोला –

बुद्धिर्विनष्टा गलिता प्रवृत्ति-
र्ब्रह्मात्मनोरेकतयाऽधिगत्या ।
इदं न जानेऽप्यनिदं न जाने
किं वा कियद्वा सुखमस्त्यपारम् ।।४८१।।

अन्वय – ब्रह्म-आत्मनोः एकतया अधिगत्या बुद्धिः विनष्टा, प्रवृत्तिः गलिता, इदम् न जाने, अन्-इदं अपि न जाने वा, सुखम् किम् वा कियत् अपारम् अस्ति।

अर्थ – ब्रह्म तथा आत्मा की एकता की अनुभूति से, मेरी (जगत् की सत्यता वाली व्यावहारिक) बुद्धि नष्ट हो गयी है, मेरी सारी प्रवृत्तियाँ (मन में उठनेवाली इच्छाएँ, विचार, कल्पनाएँ आदि) गलित हो गयी हैं, (अब) मैं 'यह' (इन्द्रिय-ग्राह्य विषयों को) और 'यह नहीं' (इन्द्रियों के अगोचर विषय को) भी नहीं जानता और (समाधि के) इस आनन्द के अपार होने से मैं यह भी नहीं जानता कि यह कितना और कैसा है!

वाचा वक्तुमशक्यमेव मनसा मन्तुं न वा शक्यते
स्वानन्दामृतपूरपूरितपरब्रह्माम्बुधेर्वैभवम् ।
अम्भोराशिविशीर्णवार्षिकशिलाभावं भजन्मे मनो
यस्यांशांशलवे विलीनमधुनाऽऽनन्दात्मना निर्वृत्तम्। ४८२

अन्वय – स्वानन्द- अमृत -पूर- पूरित- परब्रह्म- अम्बुधेः वैभवम् वाचा वक्तुं अशक्यं एव, वा मनसा मन्तुं न शक्यते। मे मनः अम्भोराशि-विशीर्ण-वार्षिक-शिलाभावं भजत्, यस्य अंश-अंश-लवे विलीनं, अधुना आनन्दात्मना निर्वृत्तम्।

अर्थ – स्व-आनन्द के अमृतरस से परिपूर्ण परब्रह्म महासागर के वैभव का निरूपण करने में वाणी असमर्थ है; मन के द्वारा उसकी कल्पना करना भी असम्भव है। जैसे वर्षा के समय समुद्र पर ओलों की बरसात होने पर, वे समुद्र के जल के साथ एकाकार हो जाते हैं, वैसे ही मेरा मन भी (ब्रह्म -सागर के) अंश के भी अंश के लेशमात्र में विलीन होकर अब अपने आनन्द-स्वरूप में स्थिर हो गया है।

क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत् ।
अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम् ।।४८३।।

अन्वय – इदं जगत् क्व गतं वा केन नीतं, कुत्र लीनं? मया अधुना एव दृष्टं, महत् अद्भुतं अस्ति न किम्?

अर्थ – अभी-अभी तो मैंने जगत् को देखा था; वह कहाँ गया, उसे कौन ले गया, वह किसमें विलीन हो गया? क्या यह बड़े ही आश्चर्य की बात नहीं है! ❖ (क्रमशः) ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२६२. भगवान बुद्ध का गृहत्याग

एक दिन गौतम बुद्ध अपने शिष्यों के साथ धर्मचर्चा कर रहे थे। आनन्द ने कहा, "भगवन्, मैं आपके निजी जीवन के बारे में प्रश्न करना चाहता हूँ। क्या आप मेरी जिज्ञासा का समाधान करेंगे?" बुद्धदेव ने उत्तर दिया, "तुम निस्संकोच कोई भी प्रश्न कर सकते हो।" आनन्द ने पूछा, "जब राजा होने के कारण आपको सब प्रकार के सुख प्राप्त थे, तो युवावस्था में ही सारे सांसारिक सुख-सुविधाओं को त्याग कर और अपनी प्रिय पत्नी तथा नवजात शिशु को छोड़कर आप कैसे संन्यस्त जीवन धारण करने के लिए तत्पर हुए?"

तथागत बोले, "भिक्षुओ, यह सत्य है कि उस समय मैं पूर्ण युवक था, मेरे सिर का एक बाल भी नहीं पका था, मेरे माता-पिता ने संन्यास लेने की अनुमति नहीं दी थी, तथापि उन्हें रोते-कलपते छोड़कर मैंने सिर के बाल, दाढ़ी व मूछें कटवायीं और काषाय वस्त्र पहनकर प्रवज्या ले ली।"

एक भिक्षु ने कहा, "यदि इसे विस्तार से समझाएँ, तो उचित होगा।"

तथागत ने बताया – "जब सेवक ने मुझे यशोधरा के पुत्रलाभ का समाचार दिया, तो मेरे मुख से ये शब्द निकल पड़े – 'पुत्र नहीं, यह तो राहु नामक बन्धन पैदा हुआ है।' उस समय पिताश्री भी वहीं उपस्थित थे। उन्होंने सुना, तो बोले, 'पोते का नाम राहुल रखा जाए।' इस प्रकार पुत्र का राहुल नामकरण हुआ। किन्तु मेरे मुख से वे उद्गार अकारण ही नहीं निकले थे। मैंने पुत्र-जन्म को मोह-माया रूपी बन्धन समझा था। मेरे मन में रह-रहकर सांसारिक स्नेह-बन्धनों को तोड़कर मुक्ति पाने के विचार उठने लगे। जब गृहत्याग की भावना प्रबल हो उठी, तो एक रात जब यशोधरा और राहुल मीठी नींद में लीन थे, मैंने सारथी छन्दक को जगाया और घोड़े पर सवार होकर कपिलवस्तु से निकल पड़ा। ४५ कोस दूर जाकर मैंने राजसी वस्त्र त्याग दिये और छन्दक को घोड़े के साथ वापस लौटा दिये।"

आत्मशोधन तथा परमात्मा या मुक्ति प्राप्त करने के लिये त्याग आवश्यक है – भले ही वह त्याग बाहर का हो, या आन्तरिक हो। गृहस्थ आन्तरिक रूप से त्याग करके अनासक्त भाव से उपरोक्त साधना में लगा रहता है; परन्तु कुछ लोग बाह्य रूप से भी सर्वस्व त्यागकर निवृत्ति या संन्यास का मार्ग अपनाते हैं। व्यक्ति कौन सा मार्ग अपनायेगा, यह उसकी पात्रता पर निर्भर करता है; परन्तु जिन्हें महान् आचार्य होकर सारे जगत् को एक आदर्श मार्ग दिखाना है, उन्हें स्त्री, पुत्र, धन तथा सांसारिक भोगों के मोह को तिलांजलि देकर निवृत्ति अर्थात् त्याग तथा संन्यास के मार्ग को अपनाना पड़ता है।

२६३. घायल की गति घायल जाने

अभिमन्यु के चक्रव्यूह में मारे जाने का समाचार सुनते ही उनकी माता सुभद्रा को गहरा आघात पहुँचा। कौरवों के छल-कपट की बात सुनकर उनके मन में बड़ा क्षोभ भी हुआ। पुत्र-वियोग को सहन पाने में असमर्थ होकर वे जोर-जोर से विलाप करने लगीं। श्रीकृष्ण को जब इस बात की सूचना मिली, तो वे तत्काल सुभद्रा के पास जा पहुँचे और उन्हें ढाढ़स बँधाते हुए बोले, "बहन, तुम तो एक वीर पुत्र की माँ हो। तुम जानती ही हो कि इस धरती पर जो भी जन्म लेता है, उसे एक-न-एक दिन मृत्यु का सामना करना पड़ता है। तुम शायद भूल गयी हो कि रणभूमि में जाते समय तुमने अभिमन्यु के माथे पर तिलक लगाते हुए, 'विजयी भव' का आशीर्वाद दिया था और यह भी कहा था कि 'बेटे, यदि तुम्हें युद्ध में वीरगति प्राप्त हुई, तो यह क्षत्रियोचित होगा और तब मैं स्वयं को धन्य समझूँगी'।"

"बस, बस, बन्द करो भैया! अपना यह तत्त्वज्ञान इसे तुम स्वयं तक ही सीमित रखो। मुझे कब क्या करना चाहिए – यह मैं भलीभाँति जानती हूँ। तुम्हीं भूल गये हो कि अभिमन्यु को युद्ध में भेजते समय मैं उसकी माँ नहीं, अपितु एक क्षत्राणी थी, जबकि आज मैं एक पुत्रविहीन माँ हूँ। मेरी मानसिक स्थिति का वही अनुभव कर सकता है, जिसके जीवन में पुत्र खोने का दारुण प्रसंग आया हो। भैया, सच-सच बताओ, यदि तुम मेरे स्थान पर होते, तो क्या तुम इस मर्मान्तक आघात को सहन करने का साहस जुटा पाते?"

श्रीकृष्ण ने सुना, तो उनसे कुछ कहते न बना। उन्हें इस बात का बोध हो चुका था कि किसी भी शोकाकुल व्यक्ति की मानसिक दशा का अनुभव किये बिना उसे उपदेश देना समयोचित नहीं, बल्कि उसके दुख को बढ़ाता है।

माँ की ममता को वही जान सकता है, जिसने प्रसूति की पीड़ा सही हो। घायल व्यक्ति की वेदना को एक अन्य घायल ही अनुभव कर सकता है। ऐसे व्यक्तियों को उपदेश न देकर उनके प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए उन्हें ढाढ़स बँधाना ही उनके दुख में कमी ला सकता है। ❑❑❑

स्वामी विवेकानन्द की १५०वीं जन्म-जयन्ती

के उपलक्ष्य में २०१३ में रामकृष्ण मठ-मिशन और अन्यों द्वारा देश-विदेश में आयोजित कार्यक्रम –

आँटपुर आश्रम के १ सितम्बर को आयोजित युवा-सम्मेलन में २२२ युवाओं ने भाग लिया।

भुवनेश्वर में १ सितम्बर के आयोजित राज्यस्तरीय संगोष्ठी में उड़िसा के मुख्यमंत्री श्री नवीन पटनायक मुख्य अतिथि थे, जिसमें ५०० लोगों ने भाग लिया।

कूचविहार में २८ अगस्त के आध्यात्मिक शिविर में ४०० लोगों ने भाग लिया।

दिल्ली में ६ से २७ सितम्बर तक स्वामीजी पर २७ कठपुतली नृत्य दिखाया गया, जिसका कुल २०,००० लोगों ने आनन्द लिया।

देवघर, में २०-२१ सितम्बर को द्विदिवसीय राज्य स्तरीय सेमीनार का आयोजन किया गया, जिसमें ७१३ लोगों ने भाग लिया, जिसमें अधिकांश छात्र थे।

गदाधर आश्रम के द्वारा आयोजित व्याख्यान में ५०० छात्रों और शिक्षकों ने भाग लिया।

हैदराबाद में ११ सितम्बर के युवा-सम्मेलन में १४०० और १२ सितम्बर के शिक्षक सेमिनार में ७०० लोगों ने भाग लिया।

गोलपार्क, कोलकाता कल्चर में १०-११ सितम्बर को आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में ५६९ युवकों ने भाग लिया। सभा का उद्घाटन रामकृष्ण मिशन के महासचिव स्वामी सुहितानन्द जी महाराज ने किया।

कानपुर में ३१ अगस्त को जिलास्तरीय युवा-सम्मेलन में २५० लोगों ने भाग लिया। १२ सितम्बर को महासचिव स्वामी सुहितानन्द जी ने इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नालाजी (आइ.आइ.टी.) के छात्रों को सम्बोधित किया।

युवा-शिविर का आयोजन

श्रीरामकृष्ण सेवा मंडल, सेक्टर-७, भिलाई नगर (छत्तीसगढ़) में एक-दिवसीय युवा-शिविर का आयोजन किया गया, जिसमें ६ विद्यालयों के १८० युवक-युवतियों ने भाग लिया। मुख्य अतिथियों द्वारा दीप-प्रज्ज्वलन और स्वामी विवेकानन्द जी के चित्र पर पुष्पार्पण करने के बाद अतिथियों का स्वागत भिलाई आश्रम के सचिव श्री पारसनाथ मिश्रा जी ने किया। प्रथम सत्र में शिविर-निर्देशक और मुख्य वक्ता रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने शिविरार्थियों को ''युवा-शिविर का उद्देश्य – चरित्र-निर्माण : क्यों और कैसे?'' पर व्यावहारिक व्याख्यान दिया। उन्होंने कहा, ''गाँधी और विवेकानन्द के पास भौतिक सम्पत्ति नहीं रहने पर भी वे भिखारी नहीं थे। उनके पास सबसे बड़ी सम्पत्ति थी उनका चरित्र। पवित्रता, त्याग, निस्वार्थता और सेवा से चरित्र का निर्माण होता है।'' उनके बाद स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने ''युवाओं के आदर्श – स्वामी विवेकानन्द'' पर भाषण देकर स्वामीजी के द्वारा युवाओं के लिये दिये गये विरासत की याद दिलायी। द्वितीय सत्र का आरम्भ सुश्री आल्या भट्टाचार्य के गिटार-वादन 'हम होंगे कामयाब' से हुआ। तदनन्तर स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने ''स्वामी विवेकानन्द जी के गुरु श्रीरामकृष्ण देव'' के महान जीवन के बारे में युवाओं को बताया। उसके बाद श्रीमती तनुजा कश्यप ने श्रीमाँ सारदा के दिव्य जीवन को बड़े ही सहज और व्यावहारिक रूप से आचरण के योग्य बच्चों के सम्मुख प्रस्तुत किया। तत्पश्चात् स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने ''स्वामी विवेकानन्द के द्वारा निर्देशित रामकृष्ण मठ और मिशन के द्वारा किये जा रहे कार्यों'' की विस्तृत जानकारी दी तथा राष्ट्र-निर्माण के इस महान यज्ञ में छत्तीसगढ़ की भूमिका से युवकों को अवगत कराया। उसके बाद प्रतिभागियों के प्रश्नों के उत्तर स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने दिया। पंजीकरण-व्यवस्था और धन्यवाद ज्ञापन श्रीमती संघमित्रा तालुकदार ने अपनी सहेलियों के साथ किया। पाली सरकार के भजन से शिविर सम्पन्न हुआ। शिविर का संयोजन मप्र.-छग. भावधारा के संयोजक श्री हिमाचल मढ़रिया जी ने किया और संचालन श्री पंकज कश्यप जी ने किया। सभी प्रतिनिधियों को स्वामीजी के फोटो सहित सुन्दर प्रमाण पत्र और पुस्तकें प्रदान की गयीं।

मदुरै, में ७ सितम्बर के अभिभावक सम्मेलन और ११ सितम्बर के युवा-सम्मेलन में ८५० छात्र और ५५० अन्य लोगों ने भाग लिया। मालदा में ६ सितम्बर के सार्वजनिक सभा को महासचिव स्वामी सुहितानन्द जी ने संबोधित किया, जिसमें ८०० लोगों ने भाग लिया। मैंगलोर, में १६ से २१ सितम्बर तक आयोजित व्यक्तित्व विकास शिविर में २५०० छात्रों तथा १२०० शिक्षकों ने भाग लिया। ❑ ❑ ❑

उच्चतम कीटनाशक के निर्माता

कृषि रसायन एक्सपोटर्स प्रा. लि.

एफ एम सी फोरचूना

ब्लॉक ए-11, चतुर्थ तल

234 / 3 ए, आचार्य जगदीश चन्द्र बोस रोड

कोलकाता - 700 020

Registered with the Registrar of Newspapers of India under No. R.N. 7764/63

Postal Regn NO C.G./RYP D.N./01 /2012-14